सिद्धयोग

2017

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

एक प्रति : 30/- द्विवार्षिक : 360/-

प्रकाशन तिथि : 01.08.201

वर्ष : 50; अंक : 5
अगस्त 2017

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 (आगरा) उ.प्र

अमृत कण

प्रणम्य शिरसा विष्णुं त्रैलोक्याधिपतिं प्रभुम्।
नानाशास्त्रोद्धृतं वक्ष्ये राजनीतिसमुच्चयम्।।

तीनों लोकों के स्वामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक परमेश्वर को प्रणाम कर मैं अनेक शास्त्रों से उद्धृत करके 'राजनीति–समुच्चयः' नामक ग्रन्थ का लेखन–कार्य आरम्भ करता हूँ।

• • •

अधीत्येदं यथाशास्त्रं नरो जानाति सत्तमः।
धर्मोपदेशविख्यातं कार्याऽकार्यं शुभाऽशुभम्।।

श्रेष्ठ मनुष्य इस शास्त्र का विधिवत् अध्ययन करके वेदादि शास्त्रों में उपदिष्ट कर्तव्य–अकर्तव्य, पुण्य–पाप, धर्म–अधर्म को ठीक–ठीक जान जाता है।

• • •

तदहं सम्प्रवक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
येन विज्ञानमात्रेण सर्वज्ञत्वं प्रपद्यते।।

मैं लोगों के मंगल की इच्छा से उस 'राजनीतिसमुच्चयः' का वर्णन करूँगा, जिसको जानकार मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है।

• • •

मूर्खशिष्योपदेशेन दुष्टस्त्रीभरणेन च।
दुःखितैः सम्प्रयोगेण पण्डितोऽप्यवसीदति।।

मूर्खशिष्य को पढ़ाने से, दुष्टस्त्री का भरण–पोषण करने से और दुःखीजनों के साथ व्यवहार करने से बुद्धिमान् मनुष्य भी दुःख उठाता है।

• • •

दुष्टा भार्या शठं मित्रं भृत्यश्चोत्तरदायकः।
ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः।।

कटुभाषिणी और दुराचारिणी स्त्री, धूर्त स्वभाव वाला मित्र, उत्तर देने वाला नौकर और सर्प वाले घर में रहना– ये सब बातें मृत्युस्वरूप ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 50
अंक : 5

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अगस्त
2017

यअग्ने ! नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराहुराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नम उक्ति विधेम।।
(ऋ. 1/286/1)

हे अग्निदेव ! मेरे सर्वज्ञ भगवान् ! हमें अपना ऐश्वर्य देने के लिए सुपथ से ले चलो ! आप उन समस्त कर्मों तथा प्रणीतियों को जानते हैं जिन पर चलने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है। हमारे अन्दर से कुटिलता पाप को हटा दो जिससे हम बार–बार आपके चरणों में प्रणत हो सकें आपका सामीप्य प्राप्त कर सकें।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1.	विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज	3
2.	सम्पादकीय	8
3.	श्रीमद्भागवत में योग–परिचर्चा – डॉ.विजय सिंह	10
4.	दान–प्रेरक – कृष्ण कुमार पाण्डेय	13
5.	प्राण विज्ञान से कैसे रोग दूर करें ? – प्रो. मनमोहन त्रिखा	16
6.	स्थित प्रज्ञ गीता का आदर्श पुरुष विशेष– आचार्य विनोबा	20
7.	मरम्मत मुकद्दर की करते प्रभूजी– डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी	26
8.	स्वास्थय और कल्याण के लिए योग – दिनेश चन्द्र शर्मा	28
9.	योग–आसन	32
10.	पुनर्जन्म का सिद्धांत – श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह	34
11.	स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर – जय नारायण राय	39

एक प्रति	: रु. 20.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
द्विवार्षिक	: रु. 360.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु.1000.00

योग-साधना में तप का महत्व

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग-साधना में तप का विशेष महत्व है, इसीलिए भगवान् पतंजलि देव ने तप को योग-सिद्धि का आधार बताते हुए, अनिवार्य रूप से उसे अपनाने पर बल दिया है। योग-दर्शन साधन पाद के प्रारम्भ में क्रियायोग की परिभाषा करते हुए सूत्र संख्या 1 में वे कहते हैं –

तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

यानी क्रियायोग का जो अवलम्बन समाधि सिद्धि की उपलब्धि में सहायक बनता है, उसमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान जैसी सद्वृत्तियों को अपने आचरण और व्यवहार में उजागर कर लेना अति आवश्यक रहता है। सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखना– स्वयं ही उसकी विशिष्टता का परिचय दे रहा है। बिना तप के न स्वाध्याय की साधना सध सकती है और न ईश्वर-प्रणिधान की क्रिया में स्थैर्य लाया जा सकता है। तपः पूत साधक बने बिना क्रियायोग का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता, इसी से तो 'क्रियायोग' सम्बन्धी सूत्र में तपः को प्रथम स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है।

तप क्या है ? इसकी व्याख्या भगवान व्यासदेव के शब्दों में – **"द्वन्द्व सहनं तपः"** अर्थात् किसी भी कार्य की सिद्धि में सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों के आघातों को सहन करते हुए तन्मयता से निरन्तर उपाय में लगे रहना ही तप कहलाता है। इन्द्रिय-निग्रह और मन की चंचलता को नष्ट करने का अभ्यास करना भी तप कहलाता है। यह तप ही मनुष्य जीवन की सफलता का मूल होता है, इसीलिए तप को ही धर्म की धुरी कहा गया है। तप की महत्ता का विशद्ता से वर्णन महाभारत में भी आया है।

शान्तिपूर्व में महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए जो उपदेश दिया है, वह तप की श्रेष्ठता का परिचायक है। यथा –

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षयते।
न ह्यतप्ततषा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते।।

भीष्मजी ने कहा–राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् का मूल कारण तप ही है, ऐसा विद्वान पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तपस्या नहीं की है उसे अपने शुभ कर्मों का फल नहीं मिलता है।

प्रजापतिरिदं सर्व,
तपसैवासृजत् प्रभु:।
तथैव वेदानृषय–
स्तपसा प्रतिपेदिरे।।

भगवान प्रजापति ने तप से ही इस समस्त संसार की सृष्टि की है तथा ऋषियों ने तप से ही वेदों का ज्ञान प्राप्त किया है।

तपसैव ससर्जा नं,
फल मूलानि यानि च।
त्रींल्लोकांस्तपसा सिद्धा:,
पश्यन्ति सुसमाहिता:।।

जो–जो फल, मूल और अन्न हैं, उनको विधाता ने तप से ही उत्पन्न किया है। तपस्या से सिद्ध हुए एकाग्र चित्त महात्मा पुरुष तीनों लोकों को प्रत्यक्ष देखते हैं।

औषधान्यगदादीनि,
क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्धयन्ति,
तपोमूलं हि साधनम्।।

औषध, आरोग्य आदि की प्राप्ति तथा नाना प्रकार की क्रियाएँ तपस्या से ही सिद्ध होती हैं ; क्योंकि प्रत्येक साधन की जड़ तपस्या ही है।

यद् दुरापं भवेत् किंचित्,
तत् सर्व तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषय: प्राप्ता,
स्तपसैव न संशय:।।

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु हो, वह सब तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तपस्या से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य को प्राप्त किया है, इसमें संशय नहीं है।

सुरापोऽसम्मतादायी,

भ्रूणहा गुरुतल्पगः।
तपसैव सुतप्तेन नरः,
पापात् प्रमुच्यते।।

शराबी, किसी सम्मति के बिना ही उसकी वस्तु उठा लेने वाला (चोर), गर्भ–हत्यारा और गुरुपत्नीगामी मनुष्य भी अच्छी तरह की हुई तपस्या द्वारा ही पाप से छुटकारा पाता है।

तपसो बहुरूपस्य,
तैस्तैर्द्वारैः प्रवर्ततः।
निवृत्त्यः वर्तमानस्य तपो,
नानशनात् परम्।।

तपस्या के अनेक रूप हैं और भिन्न–भिन्न साधनों एवं उपायों द्वारा मनुष्य उसमें प्रवृत्त होता है ; परन्तु जो निवृत्ति–मार्ग से चल रहा है, उसके लिए उपवास से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है।

अहिंसा सत्यवचनं,
दानमिन्द्रिय निग्रहः।
एतेभ्यो हि महाराज,
तपो नानशनात् परम्।।

महाराज ! अहिंसा, सत्य भाषण, दान और इन्द्रिय – संयम– इन सबसे बढ़कर तप है और उपवास से बड़ी कोई तपस्या नहीं है।

इन्द्रियाणीह रक्षन्ति,
स्वर्गधर्माभिगुप्तये।
तस्मादर्थे च धर्मे च,
तपो नानशनात् परम्।।

इस संसार में धार्मिक पुरुष स्वर्ग के साधनभूत धर्म की रक्षा के लिए इन्द्रियों को सुरक्षित (संयमशील बनाये) रखते हैं, परन्तु धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि के लिए तप ही श्रेष्ठ साधन है और उपवास से बढ़कर कोई तपस्या नहीं है।

ऋषयः पितरो देवा,
मनुष्या मृगपक्षिणः।

यानि चान्यानि भूतानि,
स्थावराणि चराणि च।।
तपः परायणाः सर्वे,
सिद्ध्यन्ति तपसा च ते।
इत्येवं तपसा देवा,
महत्वं प्रतिपेदिरे।।

ऋषि, पितर, देवता, मनुष्य, पशु–पक्षी तथा दूसरे जो चराचर प्राणी हैं, वे सब तपस्या में ही तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार देवताओं ने भी तपस्या से ही महत्वपूर्ण पद प्राप्त किया है।

इमानीष्टविभागानि,
फलानि तपसः सदा।
तपसा शक्यते प्राप्तुं,
देवत्वमपि निश्यात्।।

ये जो भिन्न–भिन्न अभीष्ट फल कहे गये हैं, वे सब सदा तपस्या से ही सुलभ होते हैं। तपस्या से निश्यच ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

श्रुति में भी कहा गया है कि परम प्रभु ने सृष्टि–रचना में तप को आधार बनाया था। **" ऋतं च सत्यं चा सीद्धन्तिपसो अप्यजायते "** अर्थात् गतिशील, चेतन जगत और स्थिर रहने वाला अचेतन जगत तप से ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा कथन है भगवती श्रुति का। तप की साधना सध जाने पर ज्ञान–राशि का प्रवेश मानव के मस्तिष्क में स्वतः ही तीव्र गति से होने लगता है। देवताओं ने असुरों पर जब–जब भी विजय पाई है, तब–तब तपस्यारत रहकर ही पाई है, ऐसी महिमा है तप की। महर्षि पतंजलि ने इसीलिए अपने क्रियायोग सम्बन्धी सूत्र में तप को प्रथम स्थान पर रखकर उसकी विशिष्टता को प्रकट किया है। अतः सभी योग–साधकों को तप को आधार बनाकर अपनी साधना को सफलीभूत बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

योग–साधना में साधक तप के महत्व की उपेक्षा न कर दें, इसीलिए योग–दर्शन के प्रणेता ऋषि ने इसमें नियमों को सम्मिलित कर दिया है। साधन पाद के सूत्र संख्या में पतंजलि भगवान लिखते हैं –

शौचसन्तोषतपः स्याध्यायेश्वरप्रणिधानाभि नियमाः।

यम और नियमों के पालन किये बिना योग–पथ में आगे बढ़ा ही नहीं जा सकता है। तप से जब अशुद्धि का क्षय होता है तब शरीर और इन्द्रियाँ सिद्धि की प्राप्ति में सहायक होती हैं। यथा–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

–योग दर्शन 2/43

तप सिद्धि प्राप्ति आवश्यक रूप से सहायक बनता है। कैवल्य पाद के सूत्र संख्या 1 में यह भी स्पष्टता से बताया गया है –

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

आशय स्पष्ट है कि जिन पांच प्रकारों से यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनमें तप भी मुख्य प्रकार है। अतः साधकों को तपोमय जीवनचर्या बनाने का सदैव ध्यान रखना ही चाहिए। ❑❑❑

श्री सद्गुरु चरण वन्दना

– श्री गोपाल अग्रवाल

गुरुदेव तुम्हारे चरणों की महिमा है अपरम्पार प्रभो,
तेरे चरण कमल हैं अमृत सम नतमस्तक बारम्बार प्रभो।
तेरे चरण कमल की दिव्य छटा चहुँ दिशा में चमकती रहती है,
तेरे चरण कमल की पावन रज सब कष्ट निवारण करती है,
तेरे चरणों के आगे हे प्रभुजी चन्दा, सूरज झुक जाते हैं,
ब्रह्मा, विष्णु, शंकर जिनकी स्तुति निज मुख से गाते हैं,
हम करते हैं इन चरणों में तेरे, नतमस्तक बारम्बार प्रभो....
तेरे चरण कमल के भजने से पापी जन पार उतरते हैं,
ऋषि मुनि गण सारे लोकों में गुणगान उन्हीं का करते हैं,
आकाश तुम्हारे चरणों में, पाताल तुम्हारे चरणों में,
ब्रह्माण्ड तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो....
गंगा, जमुना सारी नदियाँ तेरे चरणों में आकर मिलती हैं,
तेरे पावन चरणों का चरणामृत पाने को दुनिया तरसती है,
है सरयू तुम्हारे चरणों में, सरस्वती तुम्हारे चरणों में,
गोपाल तुम्हारे चरणों में, नतमस्तक बारम्बार प्रभो....
गुरुदेव तुम्हारे चरणों की, महिमा है अपरम्पार प्रभो। ❑❑❑

अध्यात्म एवं स्वभाव

योगाचार्य डॉ. दासलाल योगी

आत्मा शरीर का आश्रय लेकर अन्तरात्म भाव में उसमें निवास करता है। उस तत्व का अपने स्वभाव में स्थित रहना ही अध्यात्म है। गीता में भगवान कहते हैं स्वभावो अध्यात्मं उच्यते'। स्वभाव ही अध्यात्म कहा जाता है। 'स्व' नाम आत्मा का है उसका अपने भाव में स्थित रहना ही स्वभाव है। लौकिक अर्थो में स्वभाव प्रकृति या (Nature) को कहते हैं। यह स्वभाव इस जन्म का होता है जो अस्थायी होता है। गुणों के तारतम्य से इसमें परिवर्तन आता रहता है। किन्तु अध्यात्म या स्वभाव बदलता नहीं है। अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत है। आत्मा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना ही स्वभाव है। योग दर्शन में चित्त वृत्तियों के पूर्ण निरोध हो जाने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है ऐसा कहा है – **' तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम् '** यही कैवल्य की स्थिति होती है। गुणातीत हो जाने पर ही चित्त का कार्य समाप्त हो जाता है वह अपनी मूल प्रकृति में लीन हो जाती है। वृत्तियों का निरोध ही जीव के लिए प्रलय है। जीव को अपने स्वभाव में स्थित होने के लिये योग विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। योग शब्द संस्कृत में अलग–अलग अर्थो में प्रयुक्त होता है। युजिर योगे इस धातु से युजिर योग अथवा जोड़ के अर्थ में प्रयुक्त होता है। दूसरा धातु है युज् समाधौ यहाँ पर युज समाधि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। योग सूत्रों के भाष्यकार व्यासदेव जी को योग का यही अर्थ अभीष्ट है इसीलिए वे लिखते हैं – योगः समाधि समाधि समतावस्था जीवात्म–परमात्मनः। समाधि जीवात्मा और परमात्मा के समतावस्था को कहते हैं। समाधि सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात भेद से दो प्रकार की होती है। जिसमें असम्प्रज्ञात ही वास्तविक योग है। असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा अपने शुद्ध व मूल स्वरूप में आ जाता है। यही त्रिगुणातीत अवस्था है। जो कैवल्य लाभ देता है। जीव जीवत्व को छोड़कर अपने मौलिक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाये यही स्वभाव या अध्यात्म कहलाता है। गीता के छठे अध्याय में भगवान ने अर्जुन को योगी बनने का उपदेश दिया है। योगी बनने का तात्पर्य है कि तुम आत्मनिष्ठ बनो। इसी बात को और स्पष्ट करते हुये कहा है कि **" तस्मात् सर्वेषु कालेषु योग योक्तो भवार्जन "** तुम हर समय योग युक्त रहो।

योग युक्त मनुष्य का धर्म भी है। इसी स्थिति में ही योगी को चिर शान्ति मिलती है। यही अमृत पद में प्रतिष्ठित होना कहा गया है। यही मुक्ति है। भगवान ने अर्जुन को योग विद्या

का उपदेश दिया। अर्जुन एक गृहस्थ धर्मी तथा सांसारिक व्यक्ति था जिसे योगोपदेश किया गया। इसी प्रकार से हर गृहस्थ व्यक्ति भी योग विद्या के महत्व, रहस्य अथवा तरीके को समझकर लौकिक तथा परलोक दोनों को ही सुधार सकता है। केवल समझ एवं मन को स्थिर रखकर विवेकयुक्त रहकर कार्य करने की आवश्यकता है। इसी का नाम है समत्व योग जिसे हर व्यक्ति को अपना कर परम लाभ लेना चाहिये।

आज योग शब्द से सामान्य मनुष्य भी परिचित हो रहा है और कहता है कि " मैं भी योग करता हूँ "। आसनों को ही योग समझते हैं किन्तु आसन, प्राणायाम तो योग के एक छोटे से अंग हैं। योग समाधि है जो अंगी है तथा आसन प्राणायाम आदि इसके अंग हैं।

आज के युग में जिस तरह से हिंसा, झूठ, अत्याचार बढ़ रहा है इनके उन्मूलन का उपाय योग ही है। मनुष्य यम–नियमों का पालन करे तो एक सभ्य और आदर्श मनुष्य बन सकता है। मनुष्य योग के प्रथम अंग यम–नियमों का दृढ़ता से पालन करे तो वह योग में प्रवेश पा सकता है। योग अन्तर्जगत की विद्या है रूहानी विद्या है बिना यम–नियम के पालन किये योग में सफलता नहीं मिल सकती। यम–नियमों के पालन में साधक को दृढ़ संकल्प करना होता है अपनी वृत्तियों को सात्विक बनाना होता है इसके लिये आवश्यक है कि साधक ध्यान योग का भी साथ–साथ अभ्यास करें। योग साधना में साधक को वस्तुत: युग पद् (एक साथ) सभी अंगों का एक–साथ पालन करना होता है। क्योंकि ये एक दूसरे के पूरक भी हैं। यम–नियम के अभाव में समाधि अपूर्ण है तथा यम–नियम के पालन में समाधि की भी आवश्यकता रहती है। इसीलिये कहा जाता है कि योग के अंगों का एक साथ अभ्यास करना चाहिये।

आध्यात्म–योग ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। योग की ही बातें प्रकारान्तर से भिन्न–भिन्न ग्रन्थों में कही गई हैं।

बिना संयम के धारण किये हुए मनुष्य भव प्राप्त करना ही व्यर्थ है। कारण जब तक यह जीव संयम को नहीं पालेगा तब तक उसकी दुर्गति ही होगी। इसीलिए हर एक प्राणी का कर्तव्य है कि वह बिना संयम के एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं जाने देवे, क्योंकि बिना संयम से यह आयु भी व्यर्थ है।

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

नवमें स्कन्ध के छठे अध्याय में इक्ष्वाक वंश की गाथा गायी गयी है। महाराज मान्धाता आत्मज्ञानी थे। इसी परम्परा में विन्दुमती के गर्भ से पुरुकुत्स, अम्बरीष (दूसरे) और योगी मुचुकुन्द हुये हैं। इनके पचास बहनें थीं। पचास की पचासों ने अकेले सौभरि ऋषि को पतिरूप वरण किया।

सौभरि ऋषि यमुना जी के अन्दर डुबकी लगाकर तपस्या कर रहे थे। प्राणस्तम्भन कैसा रहा होगा। कालान्तर में तप से निवृत होते समय उनकी दृष्टि एक मत्स्यराज जो अपनी पत्नियों से मैथुन रत था पर पड़ी। यह देख कर सौभरि मुनि कामातुर हो उठे। उन्होंने विवाह करने की सोची। वे राजा मान्धाता के पास जाकर उनकी एक कन्या से विवाह करने का मन्तव्य रक्खा। राजा वृद्ध तपस्वी सौभरि जी को टालने के उद्देश्य से बोले मेरी पचास कन्याओं में जो आपको स्वंयम्वर करले उससे मैं विवाह करदूँगा।

सौभरि जी ने मन में सोचा– अच्छी बात है। मैं अपने को ऐसा सुन्दर बनाऊँगा कि राजकन्यायें तो क्या देवांगनायें भी मेरे लिये लालायित हो जायेंगी। ऐसा सोच समर्थ सौभरि जी ने अपने को योग बल से रूपान्तरित कर लिया–

साधयिष्ये तथाऽऽत्मानं सुरस्त्रीणामपीप्सितम्।
किं पुनर्मनुजेन्द्राणामिति व्यवसितः प्रभुः।। 42।।

अ. 6 स्क.9

फिर क्या था? सभी पचासों कन्याओं ने सौभरि जी को देखते ही पतिरूप में वरण कर लिया। सौमरि ऋषि ने उन सभी का पाणीग्रहण कर लिया। अपने तप–बल से बहुमूल्य सामग्रियों से सुसज्जित महलों, शय्या, आसन, वस्त्र, आभूषण, सुस्वाद भोजन, वन उपवन का निर्माण कर अपनी पत्नियों के साथ विहार करने लगे। चक्रवर्ती पृथ्वी के स्वामी मान्धाता सौभरि जी की इस गृहस्थी का सुख ऐश्वर्य देखकर आश्चर्य चकित हो गये। मैं सार्वभौम सम्पत्ति का स्वामी हूँ यह गर्व जाता रहा –

यद्गार्हस्थ्यं तु संवीक्ष्य सप्रदीपवती पतिः।
विस्मितः स्तम्भम जहात सार्वभौमश्रियान्वितम्।। 47।।

इस प्रकार सौभरि जी गृहस्थी के सुख में डूबे तमाम विषयों का बहुत काल तक सेवन करते रहे। परन्तु जैसे घी की बूँदों से आग तृप्त नहीं होती, वैसे ही उन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

सौभरि जी एक दिन स्वस्थ चित्त से बैठे हुये विचार करने लगे। अहो ! मत्सयराज के क्षणभर के संग से मैं किस प्रकार अपनी तपस्या खो बैठा। अतः निश्चय ही जिसे मोक्ष की कामना हो उसे भोगी प्राणियों का संग सर्वथा छोड़ देना चाहिये। इन्द्रियों को एक क्षण बहिर्मुख नहीं होने देना चाहिए। अकेला रह अपने चित्त को भगवान में लगा देना चाहिये। यदि संग करना ही हो तो भगवान के अनन्य प्रेमी निष्ठावान महात्माओं का संग करे –

सङ्गंत्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः।। 51।।

अ.6 स्क.9

इस प्रकार विचार करते हुये कुछ दिनों तक घर में ही रहे। फिर विरक्त होकर वन में चले गये। वहाँ जाकर परम संयमी सौभरि जी ने बड़ी घोर तपस्या किया। शरीर सूख गया। अन्ततोगत्वा अपने आप को परमात्मा में लीन कर दिया।

नवम् स्कन्ध के सातवें अध्याय में योगैश्वर्य तपबल के प्रभाव से युक्त राजा त्रिशंकु एवं हरिश्चन्द्र की कथा भगवान शुकदेव जी ने परीक्षित को सुनाया है। महाराज मान्धाता के अगली पीढ़ियों में त्रिबन्धन के पुत्र सत्यव्रत ही त्रिशंकु के नाम से विख्यात हुये। त्रिशंकु अपने पिता एवं गुरु वशिष्ठ के श्राप से चाण्डाल हो गये थे, परन्तु विश्वामित्र जी के तेज से वे सशरीर स्वर्ग में चले गये। देवताओं ने उन्हें वहाँ से ढकेल दिया वे नीचे को सिर किये जब गिर रहे थे तब विश्वामित्र जी ने अपने तपोबल से उन्हें आकाश में स्थिर कर दिया।

सशरीरो गतः स्वर्गमद्यापि दिवि दृश्यते।
पतितोऽवाक्शिरा देवैस्तेनैव स्तम्भितो बलात।। 6।।

अ.7 स्क.9

त्रिशंकु के पुत्र हरिश्चन्द्र हुये। हरिशचन्द्र को कोई सन्तान न थी। महर्षि नारद के उपदेश से वे वरुण देवता की उपासना करके उनसे पुत्र लाभ हेतु प्रार्थना किया। यह कथा प्रसंग तंत्रात्मक व्यवस्था से जुड़ी प्रतीत होती है। अनेक विद्याओं के जन्मदाता भगवान शिव हैं। अस्तु! हरिशचन्द्र ने वरुण देव से कहा – प्रभो ! मुझे पुत्र प्राप्त हो। यदि मेरे वीर पुत्र होगा तो मैं उसी से आपका यज्ञ करूँगा। तब रोहित नामक पुत्र हरिश्चन्द्र के घर पैदा हुआ। वरुण देव प्रकट हो बोले हरिश्चन्द्र तुम्हें पुत्र हो गया अब यज्ञ करो। पुत्र स्नेह से बँधे हरिश्चन्द्र ने

कहा रोहित दस दिन से अधिक का हो जायेगा तब यज्ञ के योग्य होगा। इस तरह के बहाने बनाकर वरुण देव को टालते रहे। रोहित को जब इस बात का पता चला कि पिताजी तो मेरा बलिदान करना चाहते हैं, तब युवक रोहित धनुष–बाण लेकर प्राणों की रक्षा के लिये वन में चला गया।

वरुण देव ने कुपित होकर हरिश्चन्द्र को महोदर रोग से पीड़ित कर दिया। यह समाचार सुन कर रोहित वन से नगर की ओर लौटना चाहा परन्तु इन्द्र देव प्रकट होकर बोले– बेटा रोहित ! यज्ञ पशु बनकर मरने की अपेक्षा पवित्र तीर्थों में भ्रमण करना अच्छा है। रोहित वर्ष दर वर्ष जब भी पिता के पास जाना चाहता इन्द्रदेव उसे रोक देते। अन्त में कई वर्षो बाद अजीगर्त से उसके पुत्र शुनःशेप को क्रय करके यज्ञ पशु बनाकर यज्ञ किया गया और वरुण आदि देव प्रसन्न हुये। इन्द्र ने हरिश्चन्द्र को एक सोने का रथ दिया।

हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा की परीक्षा विश्वामित्र जी ने कितना कठोर लिया था वह वृतांत भागवत में वर्णित नहीं है। मात्र संक्षेप में बताया गया है कि हरिश्चन्द्र को अपनी पत्नी के साथ सत्य में दृढ़ता पूर्वक स्थित देखकर विश्वामित्र जी बहुत प्रसन्न हुये। उन्होंने तात्विक ज्ञान का बोध कराया। उसके अनुसार हरिश्चन्द्र ने अपने मन को पृथ्वी में (मूलाधार में), पृथ्वी को जल में (स्वाधिष्ठान में) जल को तेज में (मणिपूरक में), तेज को वायु में (अनाहत में), और वायु को आकाश में (विशुद्ध चक्र में) स्थिर करके, आकाश को अहंकार (आज्ञा चक्र) में लीन कर दिया। फिर अहंकार को महत्तत्व में लीन करके उसमें ज्ञानकला का ध्यान किया जिससे सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो गया। उसके पश्चात निर्वाण–सुख की अनुभूति से ज्ञान–कला का परित्याग कर अपने स्वरूप में स्थित हो गये।

विश्वामित्रों भृशं प्रीतो ददावविहतां गतिम्।
मनः पृथिव्यां तामद्भिस्तेजसापोऽनिलेन तत्।। 25।।
खे वायुं धारयंस्तच्च भूतादौ तं महात्मनि।
तस्मिञ्ज्ञानकलां ध्यात्वा तयाज्ञानं विनिर्दहन्।। 26।।
हित्वा ता स्वेन भावेन निर्वाणसुखसंविदा।
अनिर्देश्याप्रतर्क्येण तस्थौ विध्वस्तबन्धनः ।। 27।।

अ.6 स्क.9

❑❑❑

दान - प्रेरक प्रसंग

कृष्ण कुमार पाण्डेय

व्यक्ति के जीवन में पुण्य संयम के विभिन्न स्वरूप शास्त्रों में बताये गये हैं। इन्हीं शास्त्रोक्त रूप में दान भी व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण है। हमारे शास्त्रों जहाँ दान की महत्ता बतायी गयी है वहीं दानियों के नाम और उनके दान के स्वरूप के बारे में भी चर्चा की गयी। ये दानी महापुरुष पुण्य कर्म के फलस्वरूप संसार में अमर हुए हैं। जब दानियों की चर्चा होती तो ऋषिप्रवर दधीच, कर्ण, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर तथा और भी विभिन्न महान आत्माओं का नाम श्रद्धा के साथ लिया जाता है। महात्मा भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में बताया है कि –

वने, रणे शत्रुजलाग्नि मध्ये।
महार्णवे पर्वतमस्तके वा।।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थिते वा।
रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।।

अर्थात् व्यक्ति के द्वारा किये गये पूर्व एवं वर्तमान में किया गया पुण्य ही पुरुष की वन में, रण में, शत्रुओं से घिर जाने पर, जल में अग्नि में, महासमुद्र में, पर्वत की चोटी पर, सुप्तावस्था में, असावधानी में और संकट काल आ जाने पर रक्षा किया करता है। पुनः कहा–

भीमं वनं भवति तस्य पुरं प्रधानं।
सर्वोजनः सुजनतामुपयाति तस्य।।
कृत्स्ना च भूर्भवति सन्नधिरत्नपूर्णा।
यस्यास्पूिर्व सुकुतं विपुलं नरस्य।।

अर्थात् जिस मनुष्य ने पूर्व जन्म में अत्यधिक पुण्य किया है उसके लिए भयंकर वन भी राजधानी बन जाता है। समस्त लोग सज्जन हो जाते हैं। सारी पृथ्वी खजानों और रत्नों से भरी पूरी हो जाती है।

उपरोक्त महापुरुष के अनुभव से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति को जीवन में भौतिक एवं आध्यात्मिक सफलता को प्राप्त करने के लिए सदैव चैतन्य रहना चाहिए। सामान्य रूप से व्यक्ति के जीवन में पात्रता भेद के अनुसार, पुण्य, पाप की स्वाभाविक वृत्ति दिखाई पड़ती

है। ऐसे पुण्यात्मा की कथा वाल्मीक रामायण में आयी है। सब कुछ होने के बाद भी दान न देने के कारण उनकी गतिमति के रूप की चर्चा आयी है। रामायण में भगवान राम को महर्षि अगस्त्य ने दान के संबंध में राजाश्वेत की कथा सुनाते हुए कहा कि – राम एक बार तपस्या हेतु घन–घोर जंगल में मैंने प्रविष्ट किया। घूमते–घूमते सुन्दर सरोवर पर एक पुराना आश्रम दिखाई पड़ा। सरोवर का जल स्वच्छ एवं अत्यन्त निर्मल था। उसमें विभिन्न प्रकार के पुष्प खिले हुए थे। जिसमें जलीय जीव आनन्द पूर्वक कोलाहल कर रहे थे। जंगल में आश्रम एवं सरोवर की शोभा मोहक एवं आकर्षक था। मैंने (अगस्त्य) उसी को अपने तपस्या के लिए उपयुक्त पाया। महर्षि ने आश्रम में रात बिताई। पुनः प्रातःकाल उठकर सरोवर पर स्नानादिक क्रिया हेतु प्रस्थान किया। वहाँ उस सुन्दर सरोवर के तट पर एक सुन्दर हृष्ट–पुष्ट तथा निर्मल स्वच्छ शव पड़ा हुआ दिखायी दिया। महर्षि उस शव के विषय में विचार करने लगे कि यह शव यहाँ क्यों है ? कुछ देर वे वहीं बैठकर इस पर विचार कर ही रहे थे। तब तक उन्होंने देखा कि एक दिव्य विमान जो हंसों से जुता हुआ था। आकाश से उस सरोवर पर उतरा। उस विमान से एक दिव्य स्वर्गवासी देवता भी दिखाई दिये। जो अत्यन्त रूपवान तथा दिव्य आभूषण से युक्त थे। उनके साथ अप्सराऐं भी थी। जो मधुर मृदंग एवं भ्क्ताभ्क बजाकर मधुर स्वर में गीत गा रही थीं। वह स्वर्गीय पुरुष विमान से उतरकर उस शव के पास आये तथा उसका भक्षण कर तृप्त हो जाने पर सरोवर के जल से मुख की शुद्धि की तथा जल ग्रहण किया। तत्पश्चात् विमान में आरूढ़ होने हेतु विमान पर चढ़ते हुए देख महर्षि ने उनसे उनका परिचय तथा घृणित आहार करने के बारे में पूछा – हे श्रेष्ठ देव पुरुष ऐसा दिव्य स्वरूप आपका लेकिन यह घृणित आहार किसका हो सकता है। यह आप से जानने की तीव्र जिज्ञासा हो रही है। आप स्पष्ट रूप से यह बतावें ऐसा क्यों है। क्योंकि ऐसे दिव्य पुरुष का ऐसा घृणित आहार नहीं हो सकता है। तब उस दिव्य पुरुष ने महर्षि के समक्ष उपस्थित होकर हाथ जोड़कर बताने लगे। ब्रह्मन् पूर्वकाल में मेरे महायशस्वी पिता विदर्भ देश के राजा थे। उनका नाम सुदेव था। वे तीनों लोकों में विख्यात एवं पराक्रमी थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं। जिनसे दो पुत्र उत्पन्न हुए। जिसमें बड़ा मैं स्वयं श्वेतु तथा छोटा सुरथ था। राजा का बड़ा पुत्र होने के कारण मैं राज्य का उत्तराधिकारी बना। मुझे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए एक सहस्त्र वर्ष व्यतीत हो गया। एक दिन मुझें किसी निमित्त से अपनी आयु का पता लग गया। मैं मृत्यु को समीप जानकर राज्य सौंपकर तपस्या हेतु इसी घन घोर जंगल में आ गया और इसी सुन्दर सरोवर के तट पर दीर्घ काल तक तपस्या किया। दीर्घकाल के पश्चात् जब मेरा शरीर छूट कर ब्रह्म लोक गया। वहां भूख प्यास से मेरी इन्द्रियाँ व्यथित हो रही थी। व्यथित पीड़ित मैं एक दिन ब्रह्मा जी के पास गया तथा निवेदन किया– भगवन् यद्यपि कि ब्रह्मलोक भूख प्यास के कष्ट से रहित है। फिर भी मुझे यह अत्यधिक पीड़ित कर रहा है। यह मेरे किस कर्म का परिणाम हो सकता है। मेरा आहार क्या है ? यह मुझे बताने का कष्ट करें।

मेरी बात को सुनकर ब्रह्मा जी बोले – सुदेव नन्दन तुम मृत्यु लोक में स्थित अपने ही शरीर का सुस्वादु मांस प्रतिदिन आहार करो यही तुम्हारा उपयुक्त आहार होगा। ब्रह्मा जी ने पुनः कहा कि – श्वेतु तुमने उत्तम तप करते हुए मात्र अपने शरीर का पोषण करते रहे। हे मनस्वी कोई भी व्यक्ति दान रूपी बीज बोये बिना कुछ भी नहीं जमाता है। उसे कोई भी भोज्य पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। तुमने देवताओं पितरों, एवं अतिथियों के लिए कभी भी कुछ थोड़ा सा भी दान नहीं किया है। केवल तपस्या करते रहे। वत्स इसीलिए ब्रह्मलोक में आकर क्षुधा–पिपासा के क्लेश को सह रहे हो। नाना प्रकार के आहार को ग्रहण करने से तुम्हारा पोषित शरीर अमृत के समान होगा। वह उसी सरोवर पर स्थित है। उसी के भक्षण से तुम्हारी क्षुधा पिपासा शान्त हो सकती है। किसी कालखण्ड में महर्षि अगस्त्य उसी स्थान पर तपस्या करने के लिए आयेंगे। तब तुम उन्हें दान पुण्य करके उस कष्ट से छुटकारा पा जाओगे। हे महामना तब से आज तक यही घृणित आहार ही हमारी क्षुधा–पिपासा को शान्त कर रही है। हे मुने मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आप ही वह दिव्य स्वरूप धारी हो सकते हैं। क्योंकि इस घनघोर जगल मे महर्षि अगस्त्य के शिवाय कोई प्रवेश नहीं कर सकता है। आप अवश्य ही कुम्भयोनि महर्षि अगस्त्य ही हैं। हे विप्रवर आपका कल्याण हो। आप मेरा उद्धार करने हेतु मेरे इस आभूषण का दान स्वीकार करें। जिससे आपका कृपा प्रसाद मुझे प्राप्त हो सके। हे महर्षि इन दिव्य आभूषणों के माध्यम से मैं अपनी समस्त कामनाओं और भोगों को भी दान में दे रहा हूँ। भगवन मेरे उद्धार हेतु मुझ पर कृपा करें। महर्षि अगस्त्य ने राजा श्वेत की दुःख भरी कथा को सुनकर उनके उद्धार हेतु उस दान को स्वीकार कर लिया। उनके इस दान के स्वीकार करते ही वह शव वहाँ से अदृश्य हो गया। शव के अदृश्य हो जाने पर राजर्षि श्वेत को परम आनन्द प्राप्त हुआ। हे राम यह दिव्य और अद्भूत आभूषण जो आप देख रहे हैं, यह उस राजर्षि के द्वारा प्रदत्त है। इस उपाख्यान को सुनकर भगवान राम को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

यह प्रेरक उपाख्यान दान की महत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार हम अपने गंदे कपड़े को साबुन से धोकर साफ करते हैं। उसी प्रकार विभिन्न शास्त्रानुमोदित कर्म व्यक्ति कर्म और धर्म को शुद्ध करते हैं। इसलिए इन विभिन्न शास्त्रानुमोदित कर्म जीवन को पवित्र बनाते हैं। साधक धीरे–धीरे गुरु कृपा के फलस्वरूप अन्तर्मुखी होता जाता है।

□□□

प्राण विज्ञान से कैसे रोग दूर करें ?

प्रोफेसर मनमोहन त्रिखा

हमारे शरीर में पाँच प्रकार के प्राण हैं– अपान, समान, प्राण, उदान और व्यान। अपान का स्थान गुदाद्वार, समान का नाभि, प्राण का हृदय, उदान का कंठ प्रदेश एवं व्यान समस्त शरीर में व्याप्त रहता है। ये प्राण एक अनुपात में शरीर में रहते हैं। इन में से यदि एक का भी अनुपात बिगड़ जाता है अथवा एक भी ठीक से काम नहीं करता, तो शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन प्राणों का कार्य है शरीर में सभी नस–नाड़ियों में रस, रक्त एवं वायु का प्रवाह करना है। इन प्राणों का आपस में समन्वय या सामंजस्य रहता है, एक के खराब हो जाने से दूसरे भी खराब होने लगते हैं। अपान और समान का कार्य होता है एब्डोमन को ठीक प्रकार से चलाना, जिसमें ब्लैडर, अपेंडिक्स, छोटी आंत, बड़ी आंत, पेट, स्प्लीन, गाल–ब्लेडर, लीवर, इत्यादि आते हैं। अपान यदि ठीक से कार्य ना करे तो बड़ी आंत मल का निष्कासन ठीक प्रकार से नहीं करती जिससे कब्ज हो जाता है, पेट फूलने लगता है, गैस की शिकायत होने लगती है। छोटी आंत भी अच्छी प्रकार से कार्य नहीं करती और खाए हुए अन्न में से रस नहीं खेंचती जिससे शरीर को खुराक नहीं मिलती और शरीर शक्तिविहीन होने लगता है क्योंकि शरीर को शक्ति इसी रस से प्राप्त होती है। खून बनना कम हो जाता है और व्यक्ति कमजोरी महसूस करने लगता है। समान यदि ठीक प्रकार से सञ्चालन करना बंद कर दे, तो पेट ठीक से काम नहीं करता, जिससे खाया हुआ पदार्थ हजम नहीं होता, लीवर बिगड़ जाता है। समान का काम होता है ऊर्जा प्रदान करना, यह अग्नि उत्पन्न करता है और शरीर के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे के नियम के अनुसार यह हमारे शरीर में वही कार्य करता है जो सूर्य ब्रह्मांड में करता है।

सूर्य के बिना जिस प्रकार कोई भी जीवन – चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी, या पेड़–पौधे का हो– इस पृथ्वी पर संभव नहीं है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर का जीवन भी इस समान–प्राण के बिना संभव नहीं है। तीसरे प्राण का नाम ही प्राण है, यदि यह ठीक काम करता है तो हमारे फेफड़े, दिल वगैरह तंदुरुस्त रहते हैं। यदि यह ठीक से कार्य ना करे तो फेफड़े कमजोर हो जाते हैं, टी.बी. जैसी और श्वास संबंधित कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं एवं दिल से संबंधित बीमारियाँ हो जाती हैं।

उदान – उदान यदि ठीक से कार्य ना करे तो कण्ठ संबंधित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ये पूरा

विभाग ई.एन.टी. विभाग का है यदि उदान ठीक से कार्य करता है तो आँखें कभी कमजोर नहीं होगी कानों से ठीक प्रकार से सुनाई देगा एवं नजला, जुकाम जैसे रोग नहीं होंगे।

व्यान पूरे शरीर में व्याप्त रहता है और इसका कार्य समस्त शरीर की नस, नाड़ियों में रस, रक्त, एवं वायु का प्रवाह ठीक प्रकार से करना है।

पूरे शरीर में पाँचों प्राण ठीक तरह से कार्य करें इसके लिए निम्नलिखित प्राणायाम एवं क्रियाएँ करनी चाहिए।

1. भस्त्रिका – इस प्राणायाम से प्राण अपान में मिलता है और अपान प्राण में मिलता है और इनके घर्षण से समान तेजोमय हो जाता है। समान के प्रदीप्त हो जाने से कुछ भी पदार्थ हजम हो जाता है और शरीर तेजोमय हो जाता है। चेहरे पर तेज और रोनक आ जाती है।

भगवान श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है –

अपाने जुव्हति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।

4/29

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुव्हति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।

4/30

अर्थात् अपान वायु में प्राण वायु को और प्राण वायु में अपान वायु मिलाने को भगवान श्री कृष्ण ने यज्ञ की संज्ञा दी है और कहा है इससे साधक के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

कुम्भक– कुम्भक दो प्रकार का होता है।

1. बाह्य एवं 2. आन्तरिक – बाह्य कुम्भक में साधक प्राण वायु को शरीर के बाहर निकाल देता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्वास को रोक लेता है।

आन्तरिक कुम्भक में साधक श्वास भीतर लेकर प्राण को रोक लेता है। इसी को भगवान श्री कृष्ण ने ऊपर के श्लोकों में प्राणों में प्राणों का ही हवन करना कहा है। इसका भी वही लाभ है कि सभी प्रकार के पाप (मल) नष्ट हो जाते हैं। और साधक पूर्णतया स्वस्थ्य महसूस करता है। कोई भी साधक गुरुदेव की आज्ञा के बिना कुम्भक ना करें। कुम्भक सदैव गुरुदेव के नियन्त्रण में रहकर ही करना चाहिए।

श्री गणेश जी का ध्यान– इनका ध्यान करने से पांचों प्राण ठीक प्रकार से काम करते हैं और इनमें समन्वय उत्पन्न हो जाता है। साधक यहाँ यह अवश्य जानना चाहेगें ये कैसे होता है। श्री गणेश जी का ध्यान करते समय श्वास लम्बा हो जाता है और साधक जब श्वास लेता है तो उसका श्री गणेश जी की तरह पेट फूल जाता है और जब श्वास छोड़ता है तो यह संकुचित हो जाता है। इससे उदान, समान, प्राण, अपान और व्यान भलीभाँति कार्य करने

लगते है जिससे साधक के सभी प्रकार के रोग दूर हो जाते है। गहरा श्वास लेने से (जिससे पेट फूले) साधक को अधिक ऑक्सीजन प्राप्त होती है जो पाँचों प्रकार के प्राणों में एवं शरीर में शक्ति संचार करती है। इसलिए हर व्यक्ति को हमेशा गहरा श्वास लेना चाहिए जिससे पेट फूले और पूरे शरीर को शक्ति प्राप्त हो। हमारे शास्त्र में किसी भी कार्य को शुभारम्भ करने से पहले श्री गणेश जी का ध्यान एवं पूजा करने को कहा है। इससे शरीर एवं मन शक्तिशाली बन जायेगा। यदि शरीर स्वस्थ होगा तो मनुष्य किसी भी कार्य को कुशलता से करेगा चाहे वह पढ़ाई, व्यवसाय या घर का ही कार्य क्यों ना हो।

हमारे दादा, गुरुजी महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज जो परब्रह्म, योगेश्वर एवं विशुद्ध ब्रह्म हैं, ने जन कल्याण के लिए **जीवन तत्व साधन** रूपी अमृत की अपने मन से रचना की जिससे पांचों प्राण ठीक प्रकार से काम करने लगते हैं और साधक पूर्णतया स्वस्थ हो जाता है। जीवन तत्व साधन की नौ क्रियाऐं हैं।

सर्वोत्तान–

सर्वोत्तान से फेफड़ों में पूरी वायु भर जाती है जिससे प्राण वायु को शक्ति प्राप्त होती है औऱ्य ये प्राण श्वास एवं फेफड़ों सम्बन्धित सभी रोगों को दूर कर देता है। प्रदूषित वातावरण में रहने वाले नगर वासियों के फेफड़े प्रदूषण के कारण काले हो जाते और इनकी दीवारों पर मल जमा हो जाता है। इस क्रिया से मल हट जाता है और व्यक्ति पूर्णतया रोग मुक्त हो जाता है।

स्कन्ध चालन –

इससे उदान और प्राण दोनों का संचार भलीभाँति होने लगता है और साधक के हृदय, कण्ठ और फेफड़े सम्बंधित रोग दूर हो जाते हैं।

पग चालन –

इससे अपान वायु सशक्त होती है जिससे लीवर, पेट, स्पलीन, छोटी आंत, बड़ी आंत, प्रोस्टेट, गाल ब्लेडर, मूत्र नली व मूत्र ब्लेडर इत्यादि ठीक प्रकार से काम करने लगते हैं।

नाभि चालन –

ये समान वायु को शक्ति प्रदान करता है जिससे वृकाग्नि प्रदीप्त हो जाती है। इससे सब खाया – पीया हजम हो जाता है। जिससे शरीर और चेहरे में तेज उत्पन्न हो जाता है।

मेरे गुरु भाई श्री आत्मा प्रसाद सिंह जी को लगातार चार महीने दस्त लगे रहे और श्री सद्गुरु देव भगवान जी ने रोज एक घण्टा नाभिचालन करने को कहा। नाभि चालन करने से उनकी समान वायु सशक्त एवं प्रदीप्त हो गयी जिससे उनका यह रोग बिल्कुल ठीक हो गया।

जानुप्रसार –

जानुप्रसार से अपान वायु शक्तिशाली बनती है और व्यान वायु भी अपना कार्य ठीक प्रकार से करती है। जिससे लोअर ऐब्डोमन के सभी अंग ठीक प्रकार से काम करने लगते हैं।

बालमचलन –

इससे शरीर के सभी अंगों को स्फूर्ती प्राप्त होती है और व्यान वायु भी प्रदीप्त होती है।

बालध्यान –

बाल ध्यान से पाँचों प्राण एवं ब्लड सैल्स को शक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार छोटे बच्चे के ब्लड सैल्स ज्यादा बढ़ते हैं और नष्ट कम होते हैं। उसी प्रकार से जो व्यक्ति बाल ध्यान (चाहे उसकी उम्र कुछ भी हो) करता है उसके ब्लड सेल्स बाल ध्यान करते समय अधिकाधिक बढ़ेगें।

नाड़ि संचालन –

यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्रिया है इससे व्यान वायु पूरी तरह से कार्य करने लगती है और पूरे शरीर की नस–नाड़ियों में भली भाँति रस, रक्त एवं वायु का संचार होने लगता है।

उत्क्षेपण –

इससे सूक्ष्म शरीर, मनोमय कोष और प्राणमय कोष अधिक सशक्त हो जाते हैं।

जीवन तत्व साधन का एक और विशेष एवं महत्वपूर्ण लाभ है। इससे हमारे ब्लड सैल्स में ऑक्सीजन प्रवेश हो जाती है जिससे हमारे अच्छे ब्लड सैल्स शक्तिशाली बन जाते हैं और रोग उत्पन्न करने वाले खराब ब्लड सैल्स को हरा कर उन्हें नष्ट कर देते हैं। यहाँ तक कि कैंसर के कीटाणु भी आक्सीजन के वातावरण में पनप नहीं पाते।

डॉ. वारबर्ग (WARBURG) जो जर्मनी के मशहूर डाक्टर थे और जिन्हें नोबल प्राइज से भी सम्मानित किया गया था, का कहना था कि कैंसर सैल्स ऑक्सीजन के वातावरण में पनप नहीं पाते।

इसलिए हम सबको श्री महाप्रभु जी की अमर देन जीवन तत्व साधन को अपनाना चाहिए और नित्य नियमानुसार जीवन तत्व साधन करना चाहिए।

❑❑❑

स्थितप्रज्ञ
गीता का आदर्श पुरुष विशेष

आचार्य विनोबा

'स्थितप्रज्ञ के लक्षण ' गीता का अतिशय प्रसिद्ध भाग है। अत्यन्त प्राचीन–काल से लेकर आज तक इतनी प्रसिद्धि प्राय: गीता के किसी भी दूसरे विभाग को नहीं मिली होगी। इसका कारण है, ' स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरुष–विशेष है। यह शब्द भी गीता का खास शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रंथों में वह नहीं मिलता। गीता के बाद के ग्रंथों में वह खूब मिलता है। स्थितप्रज्ञ की तरह गीता में आदर्श पुरुषों के और भी वर्णन हैं। कर्मयोगी, जीवन्मुक्त, योगारूढ़, भगवद्भक्त गुणातीत, ज्ञाननिष्ठ इत्यादि अनेक नामों से अनेक आदर्श चित्र भिन्न–भिन्न स्थलों पर आये हैं, परन्तु इन आदर्शों को औरों ने भी उपस्थित किया है।

गीता में ये आदर्श भिन्न–भिन्न साधना के वर्णन के सिलसिले में उपस्थित किये गये हैं। वे स्थित प्रज्ञ से कोई भिन्न पुरुष हैं, ऐसी बात नहीं। 'स्थितप्रज्ञ' के ही वे अनेक पहलू हैं। इन सबके वर्णन में स्थितप्रज्ञ के लक्षण गीता ने प्राय: कहीं न कहीं गूँथ ही दिये हैं। जैसे – गीता के पाँचवें अध्याय में संन्यासी अथवा योगी पुरुष के वर्णन में 'स्थिर–बुद्धि:' शब्द प्रयुक्त हुआ है। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षणों की समाप्ति 'स्थिरमति:' शब्द द्वारा की है। बुद्धि की स्थिरता हुए बिना कोई भी आदर्श पूर्ण नहीं होता ।इसीलिए यह प्रकरण इतना महत्वपूर्ण माना जाता है।

जीवन–मुक्ति की सिद्धि के लिए सबूत पेश करते हुए भाष्यकार ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण उपस्थित किये हैं। अन्तिम आदर्श का, ध्येय–मूर्ति का, साधक की दृष्टि से इतना सविस्तार विवेचन यह एक ही है।

स्थित प्रज्ञ के लक्षणों को समझने के लिए उसके पहले की भूमिका का विचार कर लेना उपयोगी होगा। यह प्रकरण गीता के दूसरे अध्याय के अन्त में आया है। इसके पहले विवेचन के दो भाग आ गये हैं :–

(1). सांख्य–बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान अथवा सब्रह्मविद्या शास्त्र।

(2). योग–बुद्धि अर्थात् आत्मज्ञान के अनुसार जीवन की कला।

शास्त्र तथा कला मिलकर ब्रह्मविद्या परिपूर्ण बनती है। किसी भी विद्या पर यह बात लागू होती है। संगीत–विद्या को ही लें। किसी ने संगीत–शास्त्र तो सीख लिया, परन्तु कण्ठ–स्वर

में व्यक्त करने की कला नहीं साधी तो वह संगीत किस काम आयेगा ? इसके विपरीत, गले में कला तो है, परन्तु शास्त्र ज्ञान नहीं, तो फिर प्रगति का मार्ग खत्म कुंठित हुआ समझिये। वही स्थिति अध्यात्म–विद्या की, अर्थात् मुनष्य के जीवन की। मनुष्य का तत्त्व–ज्ञान उसकी बुद्धि में गुप्त रहेगा, प्रकट होगा उसका आचरण। उसके आचरण से ही उसके तत्त्व – ज्ञान का नाप संसार को तथा उसको भी मालूम होगा। आचरण और ज्ञान में अन्तर भले ही रहे, पर विरोध हरगिज नहीं रहना चाहिए और अन्तर भी सतत् कर्म करते रहना चाहिए। यह काम योग–बुद्धि का है। तुलसीदासजी ने सन्तों की उपमा त्रिवेणी से दी है। तुलसी दासजी ने संतसमाज को लक्ष्य करके एक अन्य ही त्रिवेणी की कल्पना की है। भक्ति गंगा, कर्मयोग–यमुना, इस तरह उपमाएँ देकर ब्रह्मविद्या को उन्होंने गुप्त सरस्वती का स्थान दिया है।

इस उपमा के द्वारा उन्होंने यह सूचित किया है कि ब्रह्मविद्या सदैव सरस्वती की तरह अव्यक्त ही रहने वाली है। उसे योग–बुद्धि प्रकट करेगी। साधक को योग–बुद्धि प्रत्यक्ष मार्ग–दर्शन कराती है। सांख्य–बुद्धि योग–बुद्धि की बुनियाद जैसी है। बुनियाद के बिना घर नहीं बन सकता, बिना घर के बुनियाद बेकार है। दियासलाई में आग अव्यक्त स्वरूप में रहती है। दियासलाई रगड़ने से वह प्रकट होती है। अव्यक्त बिजली का कार्य सूक्ष्म बुद्धि ही जान सकती है। वही जब व्यक्त हो जाती है तब उसकी सामर्थ्य हर किसी को दिखायी देती है। सांख्य–बुद्धि और योग–बुद्धि का पारस्परिक सम्बन्ध ऐसा ही है।

योग–बुद्धि का पहला स्वरूप है कर्तव्य निश्चय। कर्तव्य–निश्चय हुए बिना साधना आरम्भ ही नहीं होती। निश्चय के बाद एकाग्रता, अर्थात् साधना में तन्मयता, फल पर ध्यान न देते हुए साधना में लीन हो जाने की वृत्ति, साधनैकशरणता अथवा साधन–निष्ठा। यह दूसरी मंजिल है। उसके आगे की मंजिल है चित्त की निर्विकार दशा अथवा समता, अर्थात् समाधि। यही जब स्थिर, अचल हो जाती है, किसी भी झोंके से जब डगमगाती नहीं है तो स्थित–प्रज्ञावस्था प्राप्त होती है। जिस पर विकारों की, विचारों की, बल्कि देववचनों की भी सत्ता शेष नहीं रही है, जिसकी समाधि अचल है, स्थिर हो गयी है, यह स्थितप्रज्ञ है। इस तरह योग–बुद्धि की ये चार मंजिलें हैं :–

(1). साधना–निश्चय,

(2). फल–निरपेक्ष एकाग्रता,

(3). समता अथवा समाधि, और

(4). स्थिरसमाधि – अखण्ड, निश्चल और सहज। यही स्थित–प्रज्ञावस्था है।

भगवान् के इस विवेचन से कि योग–बुद्धि का अन्तिम परिपाक स्थिर समाधि में, स्थित–प्रज्ञता में होता है, अर्जुन के हाथ प्रश्न–बीज लगा। इसलिए उन्हीं शब्दों को पकड़कर, उसने

यह जानने के लिए कि स्थितप्रज्ञ कैसा होता है, पूछा :

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा
समाधिस्थस्य केशव ?
स्थितधीः किं प्रभाषेत
किमासीत व्रजेत किम ?

ऐसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है ? वह कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसे रहता है, कैसे फिरता है, यह सब मुझे बताइये। इसके उत्तर में भगवान ने स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं, जो कि हमारी चर्चा का विषय है।

भगवान के विवेचन का विचार करने से पहले यहाँ 'समाधि' शब्द को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए, क्योंकि इस शब्द से बहुत ही भ्रम पैदा हुआ है। समाधि का आमतौर पर अर्थ किया जाता हैं– ध्यानसमाधि। यदि कोई आदमी समाधि में हैं यानी जिस बात का वह चिन्तन कर रहा है उसके अलावा उसे दूसरा कोई भी सम्वेदन नहीं होता, तो फिर अर्जुन का यह प्रश्न ही उड़ जाता है कि समाधिस्थ पुरुष बोलता कैसे है, चलता कैसे है, फिरता कैसे है ? इस कठिनाई को देखकर कुछ भाष्यकारों ने स्थितप्रज्ञ–अवस्था के दो विभाग कर दिए हैं :–

(1). समाधि में रहते हुए स्थितप्रज्ञ कैसे बरतता है और (2). समाधि में न रहते हुए कैसे बरतता है – इस तरह दुहरा विवेचन किया है। इस विवेचना में कल्पना तो है, परन्तु उसमें विचार–दोष हैं। इसमें इस बात का ध्यान नहीं है कि गीताप्रतिपादित इस जगह की समाधि भिन्न प्रकार की है। चढ़ने उतरने वाली समाधि ध्यान समाधि है। स्थितप्रज्ञ की समाधि इससे भिन्न है। वह ज्ञान–समाधि है। वह न चढ़ती है, न उतरती है। "**नैना प्राप्यः विमुह्यति**", इस तरह उसका वर्णन किया गया है। अर्थात् वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं। ध्यान–समाधि एक वृत्ति है। चार–चार दिन टिक जाने पर भी उसके उतरने की अपेक्षा रहती है, यह ऐसी समाधि नहीं है।

स्थितप्रज्ञ की समाधि वृत्ति नहीं है, वह निवृत्ति है। 'निवृत्ति' शब्द से लोग घबराते हैं। वे कहते हैं – " यह तो खामोश होकर बैठ जाना है ", परन्तु यह ठीक नहीं है। आखिर खामोश बैठना भी एक वृत्ति ही है। वह सब तरह से निवृत्त है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ध्यान नहीं करेगा। किसी सेवा–कार्य का चिन्तन करने के लिए, अथवा फुरसत के समय में, वह कुछ समय ध्यानादि करेगा, परन्तु वह उसका लक्षण नहीं है। उसका लक्षण तो है स्थिरबुद्धि। कर्मयोग जैसे एक उपयोगी साधन है, वैसे ध्यान भी उपयोगी साधन है, परन्तु कर्मयोग की तरह ही ध्यान भी स्थितप्रज्ञ की स्थिति नहीं है।

पतंज्जलि के योगशास्त्र के कारण 'समाधि' शब्द का अर्थ, 'ध्यान–समाधि' रूढ़ हो गया है। परन्तु पतंज्जलि ने भी ध्यान–समाधि को अन्तिम स्थिति नहीं माना है। पतंज्जलि के सूत्र

सुव्यवस्थित एवं अनुभव पर आधारित शास्त्र है। उनके कुल 195 सूत्रों में पहले तीन सूत्र सारभूत है। ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री की तरह योगसूत्र में यह त्रिसूत्री है।

(1). अथ योगानुशासनम्:,

(2). योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः,

(3). तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्।

इन तीन सूत्रों में सारा शास्त्र थोड़े में समाप्त हो गया है, परन्तु इसमें समाधि का तो कहीं नाम ही नहीं आया है। प्राप्तव्य तो योग है, और चित्तवृत्ति–निरोध उसकी व्याख्या है। समाधि अर्थात् ध्यान–समाधि भी एक वृत्ति ही है और उसका उपयोग पतंञ्जलि ने वृत्ति–निरोधरूपी योग की लब्धि के लिए शिरोमणि साधन के तौर पर बताया है। **'श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक:'** , यह उनकी योग पर चढ़ने की सीढ़ी है। आरम्भ में श्रद्धा, उससे वीर्य अर्थात् उत्साह तत्पूर्वक स्मृति अर्थात् आत्म–स्मरण, तत्परिपाक तन्मयतारूपी ध्यान–समाधि, उससे प्रज्ञा, और प्रज्ञा स्थिर हुई तो यही योग है। इन सीढ़ियों से योग प्राप्त होता है,ऐसा उन्होंने स्पष्ट कहा है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिए समाधि के बाद उन्होंने प्रज्ञा बताई है। यह 'प्रज्ञा' शब्द पतंञ्जलि ने गीता से ही लिया है। अर्जुन के प्रश्न से पूर्व के श्लोक में भगवान ने कहा है कि समाधि में बुद्धि के अचल हो जाने पर तुझे योग की प्राप्ति होगी 'योग' ही पतञ्जलि का अन्तिम शब्द है। उसका साधन उन्होंने प्रज्ञा बताया है और समाधि को प्रज्ञा–लब्धि का साधन बताया है। समाधि का ध्यान–स्वरूप मिटकर जब उसे सदा की सहज स्थिति का स्वरूप प्राप्त होता है,तब वह प्रज्ञा कहलाती है। इस तरह पतञ्जलि के सूत्रों तथा गीता के विवेचन में समन्वय है।

स्थितप्रज्ञ की कल्पना में बुद्धिवाद की पराकाष्ठा हो गई है। बुद्धि, शुद्ध बुद्धि को बोध का साधन माना गया है। राग–द्वेषादि विकारों से अलिप्त बुद्धि ज्ञान का सही साधन हो सकता है। हम कहते हैं कि फलाँ मेरी बुद्धि को नहीं जँचती। गीता कहती है – 'मेरी बुद्धि को' मत कह, 'मेरी' विशेषण को छोड़कर केवल शुद्ध बुद्धि क्या कहती है, यह देख ! 'मेरे' पन में अहंकार है, विकार है, संस्कारों की गुलामी है, परिस्थिति का बन्धन है। तू 'मद्बुद्धिवादी' है या बुद्धिवादी ? जब बुद्धि विकार रहित हो जाती है, सब उपाधियों से अलग हो जाती है तो वह स्थित होती है। 'स्थित होती है' का मतलब सीधी तनकर खड़ी रहती है, डगमगाती नहीं, उसमें कम्पन नहीं रहता। 'सो विकम्पेन योगेन युज्यते', उसे निष्कंप योग प्राप्त होता है – ऐसा जो आगे दसवें अध्याय में कहा है, उसका अर्थ यही है। बुद्धि में जरा–सा भी कम्पन या डगमगाहट, हिचकिचाहट, घबराहट और अनिश्चय न रहना चाहिए। तभी वह बुद्धि काम देगी और उसे तभी बुद्धि कहेंगे। 'स्थित' शब्द का दूसरा अर्थ है 'सरल'। बुद्धि बिलकुल सरल होनी चाहिए। उसमें जरा भी वक्रता न होनी चाहिए। चरखे के तकुए में, महीन सूत कातते वक्त जरा भी टेढ़ापन नहीं चल सकता। बिल्कुल सीधा, सरल होने पर ही वह काम

देता है। यही हाल बुद्धि का है। चरखे का सरल–सीधा तकुआ स्थित–प्रज्ञ की बुद्धि के लिए उत्कृष्ट उपमा है। सीधे तकुए को अंग्रेजी में 'ट्रू' कहते हैं। इस शब्द में बड़ी खूबी है। जिस तकुए में जरा भी वक्रता न हो उसे 'ट्रू' अर्थात् अचूक कहते हैं। इसी तरह बुद्धि ट्रू अर्थात् अचूक होनी चाहिए।

कम्पन और वक्रता इन दोषों का थोड़ा पृथक्करण कर लेना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों मिलकर एक ही दोष हैं। चरखे के तकुए से यह बात समझ में आती है। जो तकुआ टेढ़ा होता हैं, वही काँपता है। यही बात बुद्धि की है। सरल–सीधी बुद्धि कभी नहीं कांपती। इस तरह कम्पन्न और वक्रता दोनों के एक रूप होने पर भी विचार की दृष्टि से उनका पृथक्–पृथक् अर्थ ग्रहण करना चाहिए। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो कम्पन मुख्यतः बुद्धि का और वक्रता मन का दोष है। मन एक तरह से बुद्धि का ही भाग है, तो भी विचार की सुविधा के लिए उसे अलग कर लिया जाता है। छोटे बच्चे का मन बिलकुल सरल होता है, अतः वह बड़ी तेजी से ज्ञान ग्रहण कर सकता है। इसलिए ज्ञान–दृष्टि से ऋजुता को सबसे महत्वपूर्ण गुण समझना चाहिए। बिना ऋजुता के निश्चित और निष्कम्प–ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। 'अर्जुन' शब्द का अर्थ भी कोष में 'ऋजु बुद्धिवाला ' है।

गीता का 'प्रज्ञा' शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। 'बुद्धि' शब्द सामान्य है। बुद्धि मनुष्य के मनोविकारों के अनुसार बदलने–पलटने वाली होती है। मनुष्य की मानसिक कल्पनाओं के रंग बुद्धि पर चढ़ते हैं। यह रंगीन बुद्धि अचूक निर्णय करने का कार्य नहीं कर सकती। जिस बुद्धि पर मानसिक कल्पनाओं का, विकारों का, पसंदगी–नापसंदगी का, वृत्तियों का रंग नहीं चढ़ता, जो केवल ज्ञान का कार्य करती है, वह प्रज्ञा है। प्रज्ञा तटस्थ होती है। वह ठीक वस्तु–स्वरूप पर लक्ष्य रखकर निर्णय दिया करती है। जब बुद्धि पर रंग चढ़ जाता है तो एक ही बुद्धि की अनेक बुद्धियाँ बन जाती हैं। दया का रंग चढ़ जाने पर दया–बुद्धि, द्वेष का रंग चढ़ जाने पर द्वेष–बुद्धि।

इस प्रकार अनेक बुद्धियाँ मनुष्य को चारों ओर खींचने का, त्रस्त करने का, व्याकुल कर देने का, जर्जर करने का काम अलबत्ता करती रहती हैं। ऐसी हजार बुद्धियाँ मार्ग–दर्शन करने में बेकार हैं। शुद्ध–बुद्धि, अर्थात् प्रज्ञा ही ठीक निर्णय देती है, क्योंकि उसका अपना कोई रंग नहीं होता। वह थर्मामीटर की तरह होती है। स्वयं थर्मामीटर को बुखार नहीं चढ़ा होता, इसी से वह दूसरों के ताप का मापक हो सकता है।

बुद्धि किसी के पास कम या ज्यादा हो, इसका महत्व नहीं है। महत्व स्वच्छ बुद्धि का है। आग की छोटी–सी चिनगारी भी कार्यकारी हो सकती है। वह कपास के ढेर को जला सकती है। इसके विपरीत कोयला बहुत बड़ा–सा होने पर भी वह उसमें दब जाता है। प्रश्न बुद्धि के कम या ज्यादा होने का नहीं है। शुद्ध बुद्धि की एक छोटी–सी ज्योति चिनगारी, एक छोटी–सी भी काफी है। बुद्धि की शक्ति की यही खूबी है। शारीरिक शक्ति की बात ऐसी बात

नहीं है। कोई सीकिया पहलवान इस जन्म में गामा बन सकेगा या नहीं, इसमें सन्देह हो सकता है। किसी अल्प–बुद्धि मनुष्य के लिए राष्ट्रकार्य संचालन का नेतृत्व साधना सम्भव नही, परन्तु नितान्त अल्प–बुद्धि और अशिक्षित मनुष्य भी इस जन्म में स्थितप्रज्ञ निःसन्देह हो सकता है। उसके लिए गठरीभर बुद्धि की जरूरत नहीं है। प्रज्ञा की एक चिनगारी ही काफी है। भारी–भरकम बुद्धि चाहे संसार में कितने ही काम–काज और उथल–पुथल करती रहे, परन्तु त्रिभुवन को भस्म करने की सामर्थ्य तो केवल प्रज्ञा की चिनगारी में ही है।

❑❑❑

आश्रम समाचार

श्री सिद्धगुफा संवाई आश्रम में श्री गुरु पूर्णिमा महोत्सव व रूद्र महायज्ञ सम्पन्न

इस वर्ष गुरु–पूर्णिमा का महोत्सव 9 जुलाई को बड़े धूम–धाम से मनाया गया। लगभग 12–13 हजार व्यक्तियों ने भण्डारे का प्रसाद ग्रहण किया। 11 जुलाई से ही श्री रुद्र महायज्ञ का अनुष्ठान शुरू हो गया जो 11 दिन तक लगातार चलता रहा इसमें 23 वेद पाठियों ने सस्वर रुद्री का पाठ किया। इस कार्यक्रम में लगभग तीन सौ साधकों ने भाग लिया।

साधक गण–प्रातः एक घण्टा ध्यान का अभ्यास करते थे पश्चात योगासन, जीवन तत्व साधन तथा प्राणायाम का अभ्यास कराया जाता रहा। 9 बजे से ही यज्ञ शाला में बैठकर वेदध्वनि का श्रवण करते थे तथा गुरु मंत्र का जाप करते रहे।

श्रावण मास भगवान शिव से सम्बन्धित मास माना जाता है। शिव मन्दिरों में गंगा जल लाकर चढ़ाया जाता है। तथा मन्दिरों में विशेष पूजा व अर्चना की जाती है। आश्रम में 21 जुलाई तक अनुष्ठान का कार्यक्रम चला। 21 जुलाई को 11 बजे पूर्णाहुति के साथ ही ब्रह्मभोज तथा गुरु भक्तों को भोजन प्रसाद वितरित हुआ। इस प्रकार से बहुत ही सुन्दर आध्यात्मिक वातावरण में जाप, ध्यान व अनुष्ठान का कार्यक्रम चला।

❑❑❑

मरम्मत मुकद्दर की करते प्रभूजी

डॉ. रुद्रदत्त चतुर्वेदी, सी–21, देवरतन अपार्टमेंट एच–पार्क, महानगर विस्तार, लखनऊ

जुलाई 1956 से जब से इस दरबार में आया हूँ निरंतर प्रभू कृपा पाता रहा हूँ। नवीनतम घटना 3–4 वर्ष पुरानी है और अब भी चल रही है। गोरखपुर में एक भू–माफिया है जिसकी कुदृष्टि मेरे दामाद के मकान पर पड़ गई है। सपा सरकार के पिट्ठू विधायक का चुनाव लड़ रहे एक नेता का वह फाइनेंसर है। सर्व प्रथम उस भू–माफिया ने मेरे दामाद के मकान की रजिस्ट्री एक अन्य छुटभैया नेता के नाम करवा दी। उस भू–माफिया के चेले ने मुकदमा दायर कर दिया परन्तु कोर्ट ने मेरे दामाद के पक्ष में स्टे दे दिया। नये खरीददार द्वारा दायर की गई पुनर्विचार याचिका न्यायालय ने खारिज कर दी।

फिर उस भू–माफिया ने एक उपकृत जज के घर बुलवा कर जज से एक प्रस्ताव रखवाया कि मेरे दामाद उस सम्पत्ति का लगभग एक चौथाई पैसा लेकर उस भू–माफिया को अपने मकान का कब्जा दे दें। बकौल जज वह भू–माफिया गरीब है अत: शेष पैसा वह 2–3 माह बाद दे देगा।

अब श्री प्रभू जी की कृपा शुरू हुई। मेरे द्वारा भुगतान एक मुश्त करने की शर्त तै होते – होते दि. 7 नवम्बर 2016 आगई और 08 नवम्बर को नोटबंदी की घोषणा हो गई अन्यथा पूरा रुपया डूब जाता।

इसी बीच तत्कालीन डी. जी.पी. श्री जावेद अहमद उसके नजदीकी रिश्तेदार बन गये। ऐसे में उनके दवाब के चलते गोरखपुर पुलिस ने बंदर नाच शुरू कर दिया। पुलिस ने मेरे समेत गिरफ्तारी का कार्यक्रम बनाया। परन्तु पुलिस का वीडियों बन जाने से वह असफल रहा। पुलिस का अभियान असफल रहा वह चमत्कार ही था जिसे कानूनी प्रक्रिया के चलते बताना उचित नहीं।

इस दौरान उच्च न्यायालय ने सुरक्षा प्रदान कर दी। इसी बीच डी.जी.पी. की शिकायत की गई। नई सरकार के आते ही योगी ने उन्हें भगा दिया। सम्बन्धित एस. एस.पी. हटाये गये। जज साहब के विरुद्ध मा. उच्चन्यायालय ने संज्ञान लेकर उनके

विरुद्ध जाँच शुरू कर दी है। इस प्रकार तूफान शमन हो गया है और स्थितियाँ सुधर रही हैं।

बस आश्रम के संपर्क वालों को केवल यह बताना चाहूँगा कि डी.जी.पी. (पुलिस महानिदेशक, उ.प्र.) और गोरखपुर के एक जज जैसे प्रभावशाली और शक्ति सम्पन्न शत्रु के लिए एक फिल्म का गीत याद आ रहा है – "पाँसे सभी पलट गये दुश्मन की चाल के" और अंत में अवश्य कहना चाहूँगा कि जो शीर्षक दिया है वह सच सिद्ध होता जा रहा है। मेरा उन चार चरणों में सादर नमन है।

□□□

आत्मतत्व

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽचर्यो ज्ञाता कुशलाऽतुशिष्टः।।

आत्मतत्व बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता और जिसको बहुत से लोग सुनकर भी समझ नहीं पाते, ऐसे इस गुढ़ आत्मतत्व का वर्णन करने वाला महापुरुष आश्चर्यमय है। उस प्राप्त करने वालों में भी कोई बिरला ही बुद्धिमान साधक ऐसा होता है जिसने आत्मतत्व को पाकर अपना जीवन सफल बना लिया हो। तत्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों से उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मननिदिध्यासन करते–करते तत्व का साक्षात्कार करने वाले पुरुष तो जगत में अत्यन्त दुर्लभ हैं।

स्वास्थ्य और कल्याण के लिए योग

दिनेश चन्द्र शर्मा

योग व्यक्ति के शरीर, मन, भावना एवं ऊर्जा के स्तर पर कार्य करता है। इसे व्यापक रूप से चार वर्गों में विभाजित किया गया है : कर्मयोग में हम शरीर का प्रयोग करते हैं, ज्ञानयोग, में हम मन का प्रयोग करते हैं, भक्तियोग, में हम भावना का प्रयोग करते हैं और क्रियायोग में हम ऊर्जा का प्रयोग करते हैं। योग की जिस भी प्रणाली का हम अभ्यास करते हैं, वह एक दूसरे से आपस में अधिक मिली हुई होती है।

प्रत्येक व्यक्ति इन चारों योग कारकों का एक अद्वितीय संयोग है। समर्थ गुरु ही योग्य साधक को उसके आवश्यकतानुसार आधारभूत योग सिद्धानों का सही संयोजन करा सकता है। " योग की सभी प्राचीन व्याख्याओं में इस विषय पर अधिक बल दिया गया है कि समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में अभ्यास करना अति आवश्यक है।"

योग के अलग–अलग सम्प्रदायों, परंपराओं, दर्शनों धर्मों एवं गुरु– शिष्य परंपराओं के चलते भिन्न–भिन्न पारंपरिक पाठशालाओं का मार्ग प्रवृत्त हुआ। इनमें ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, पातंजलयोग, कुंडलिनीयोग, हठयोग, ध्यानयोग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग, जैनयोग, बौद्धयोग आदि सम्मिलित हैं। प्रत्येक सम्प्रदा के अपने अलग दृष्टिकोण और अभ्यास क्रम हैं जिसके प्रत्येक योग सम्प्रदायों ने योग के उद्देश्य और लक्ष्य तक पहुंचने में सफलता प्राप्त की है।

योग साधनाओं में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, बंध एवं मुद्रा, षट्कर्म, युक्ताहार, मंत्र–जप, युक्तकर्म आदि साधनाओं का अभ्यास सबसे अधिक किया जाता है।

यम प्रतिरोधक एवं नियम अनुपालनीय हैं। इन्हें योग अभ्यासों के लिए पूर्व अपेक्षित एवं अनिवार्य माना गया है। आसन का अभ्यास शरीर एवं मन में स्थायित्व लाने में सक्षम है, " कुर्यातदासनम् स्थैर्यमारोग्यचांगलाघवम् ", अर्थात् आसन का अभ्यास महत्वपूर्ण समय सीमा तक मनोदैहिक विधि पूर्वक अलग–अलग करने से स्वयं के अस्तित्व के प्रति दैहिक स्थिति एवं स्थिर जागरूकता बनाए रखने की योग्यता प्रदान करता है।

प्राणायाम श्वास प्रश्वास प्रक्रिया का सुव्यवस्थित एवं नियमित अभ्यास है। यह श्वसन प्रक्रिया के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने एवं उसके पश्चात् मन के प्रति सजगता उत्पन्न

करने तथा मन पर नियंत्रण स्थापित करने में सहायता करता है। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में श्वास प्रश्वास प्रक्रिया को सजगता के साथ किया जाता है। बाद में, यह घटना नियमित, नियंत्रित एवं निर्देशित प्रक्रिया के माध्यम से नियमित हो जाती है। प्राणायाम का अभ्यास नासिका, मुख एवं शरीर के अन्य छिद्रों तथा शरीर के आंतरिक एवं बाहरी मार्गों तक जागरूकता बढ़ाता है। प्राणायाम का अभ्यास नियमित, नियंत्रित और निरीक्षित प्रक्रिया द्वारा श्वास को शरीर के अन्दर लेना पूरक कहा जाता है, नियमित, नियंत्रित और निरीक्षित प्रक्रिया द्वारा श्वास को शरीर के अन्दर रोकने की अवस्था कुंभक तथा नियमित, नियंत्रित और निरीक्षित प्रक्रिया द्वारा श्वास को शरीर के बाहर छोड़ना रेचक कहा गया है।

प्रत्याहार के अभ्यास से व्यक्ति स्वयं की इंद्रियों के माध्यम से सांसारिक विषय का त्याग कर अपने मन तथा चैतन्य केन्द्र के एकीकरण का प्रयास करता है, धारणा का अभ्यास मनोयोग के व्यापक आधार क्षेत्र के एकीकरण का प्रयास करता है, यह एकीकरण बाद में ध्यान में परिवर्तित हो जाता है। इसी ध्यान में चिंतन (शरीर एवं मन के भीतर केंद्रित ध्यान) एवं एकीकरण रहने पर कुछ समय पश्चात् समाधि की अवस्था में परिवर्तित हो जाता है।

बंध एवं मुद्रा ऐसे योग अभ्यास हैं, जो प्राणायाम से सम्बन्धित हैं। ये उच्च यौगिक अभ्यास के रूप प्रसिद्ध माने जाते हैं, जो मुख्य रूप से नियंत्रित श्वसन के साथ विशेष शारीरिक बंधों एवं विभिन्न मुद्राओं के द्वारा किए जाते हैं। यही अभ्यास आगे चलकर मन पर नियंत्रण स्थापित करता है और उच्चतर यौगिक सिद्धियों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। हालांकि, ध्यान का अभ्यास, जो व्यक्ति को आत्मबोध एवं श्रेष्ठता की ओर ले जाता है, योग साधना पद्धति का सार माना गया है।

षट्कर्म शरीर एवं मन शोधन का सुव्यवस्थित एवं नियमित अभ्यास है। जो शरीर में एकत्रित हुए विष को हटाने में सहायता प्रदान करता है। युक्ताहार स्वस्थ जीवन के लिए पर्याप्त सुव्यवस्थित एवं नियमित भोजन का समर्थन करता है।

योगाभ्यास के लिए सामान्य दिशानिर्देश

योगाभ्यास करते समय योग के अभ्यासी को शास्त्रों में बताये दिशा निर्देशों एवं सिद्धांतों का पालन अवश्य करना चाहिए :

अभ्यास से पूर्व

शौच–शौच का अर्थ है शोधन, जो योग अभ्यास के लिए यह एक महत्वपूर्ण एवं पूर्व अपेक्षित क्रिया है। इसके अन्तर्गत आस पास का वातावरण, शरीर एवं मन की शुद्धि की जाती है।

योग का अभ्यास शांत वातावरण में आराम के साथ शरीर एवं मन को शिथिल करके किया जाना चाहिए।

योग अभ्यास करते समय खाली पेट अथवा, आवश्यकता होने पर अल्पाहार लेकर कर सकते हैं। यदि अभ्यास के समय कमजोरी महसूस करें तो गुनगुने जल में थोड़ी सी शहद मिलाकर ले सकते हैं।

योग अभ्यास मल एवं मूत्र का विसर्जन करने के उपरान्त प्रारम्भ करना चाहिए।

अभ्यास करने के लिए चटाई, दरी, कंबल अथवा योग मैट का प्रयोग करना चाहिए।

अभ्यास करते समय शरीर की गतिविधि आसानी से हो, इसके लिए हल्के सूती और आरामदायक वस्त्रों को प्राथमिकता के साथ धारण करना चाहिए।

थकावट, बीमारी, जल्दबाजी एवं तनाव की स्थितियों में योग नहीं करना चाहिए।

यदि पुराने रोग, पीड़ा एवं हृदय संबंधी समस्याएँ हैं तो ऐसी स्थिति में योग अभ्यास शुरू करने के पूर्व चिकित्सक अथवा योग विशेषज्ञ से परामर्श लेना चाहिए।

गर्भावस्था एवं मासिक धर्म के समय योग करने से पहले योग विशेषज्ञ से परामर्श किया जाना चाहिए।

अभ्यास के समय

अभ्यास सत्र किसी प्रार्थना अथवा स्तुति से प्रारम्भ करना चाहिए। क्योंकि प्रार्थना अथवा स्तुति मन एवं मस्तिष्क को शिथिल करने के लिए शांत वातावरण निर्मित करते हैं।

योग अभ्यासों को आरामदायक स्थिति में शरीर एवं श्वास प्रश्वास की सजगता के साथ धीरे–धीरे प्रारम्भ करना चाहिए।

अभ्यास के समय श्वास प्रश्वास की गति नहीं रोकनी चाहिए, जब तक कि आपको ऐसा करने के लिए विशेष रूप से कहा न जाए।

श्वसा प्रश्वास सदैव नासारन्ध्रों से ही लेना चाहिए, जब तक कि योग शिक्षक द्वारा आपको अन्य विधि से श्वास प्रश्वास लेने के लिए कहा न जाए।

अभ्यास के समय शरीर को शिथिल रखें, किसी प्रकार का झटका प्रदान नहीं करें।

अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के अनुसार ही योग अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास के अच्छे परिणाम आने में कुछ समय लगता है, इसलिए लगातार और नियमित अभ्यास बहुत आवश्यक है।

प्रत्येक योग अभ्यास के लिए ध्यातव्य निर्देश एवं सावधानियाँ तथा सीमाएँ होती हैं। ऐसे ध्यातव्य निर्देशों को सदैव अपने मन में रखना चाहिए।

सामंजस्य एवं शान्ति के लिए योग

योग सत्र का समापन सदैव ध्यान एवं गहन मौन तथा शांति पाठ से करना चाहिए।

अभ्यास के बाद 20–30 मिनट के बाद स्नान किया जाना चाहिए।

अभ्यास के 20–30 मिनट बाद ही आहार ग्रहण करना चाहिए।

आहार संबंधी दिशा निर्देश पर भी ध्यान देना चाहिए आप इस बात को सुनिश्चित कर सकते हैं कि अभ्यास के लिए शरीर एवं मन ठीक प्रकार से तैयार हैं। अभ्यास के बाद आम तौर पर शाकाहारी आहार ग्रहण करना श्रेयस्कर माना जाता है। 30 वर्ष की आयु से ऊपर के व्यक्ति के लिए बीमारी या अत्यधिक शारीरिक कार्य अथवा श्रम की स्थिति को छोड़कर एक दिन में दो बार भोजन ग्रहण करना पर्याप्त होता है।

योग निश्चित रूप से सभी प्रकार के बंधनों से मुक्ति प्राप्त करने का साधन है। वर्तमान समय में हुए चिकित्सा शोधों ने योग से होने वाले कई शारीरिक और मानसिक लाभों के रहस्य प्रकट किए हैं। साथ ही साथ योग के लाखों अभ्यासियों के अनुभव के आधार पर इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि योग किस प्रकार सहायता कर सकता है।

योग शारीरिक स्वास्थ्य, स्नायुतन्त्र एवं कंकालतन्त्र के कार्य करने और हृदय तथा नाड़ियों के स्वास्थ्य के लिए हितकर अभ्यास है।

यह मधुमेह, श्वसन संबंधी विकार, उच्च रक्तचाप, निम्न रक्तचाप और जीवन शैली संबंधी कई प्रकार के विकारों के प्रबंधन में लाभकर है।

योग अवसाद, थकान, चिंता संबंधी विकार और तनाव को कम करने में सहायक है।

योग शरीर एवं मन के निर्माण की ऐसी प्रक्रिया है, जो समृद्ध और परिपूर्ण जीवन की उन्नति का मार्ग है।

❑❑❑

सुखमध्ये स्थितं दु:खं दु:खमध्ये स्थितं सुखम्।
द्वयमन्योन्य–संयुक्तं प्रोच्यते जलपङ्कवत्।।
सुखस्यनन्तरं दु:खं दु:खस्यानन्तरं सुखम्।
सुखं दु:खं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्तते।।

सुख के भीतर दु:ख और दु:ख के भीतर सुख समाया रहता है। दोनों जल और कीचड़ की भाँति आपस में मिले रहते हैं।

सुख के पश्चात् दु:ख और दु:ख के पश्चात् सुख होता है। मनुष्य के सुख–दु:ख निरन्तर पहिये की तरह घूमते रहते हैं।

योग-आसन

पादहस्तासन

विधि

समभाव से सीधे खड़े हो जायें व अपने दोनों हाथों को पीठ की ओर से घुमाकर आगे की ओर नीचे को झुकाते लायें व धीरे-धीरे अपने दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठे पकड़ लीजिये, किन्तु पैर यत्किंचित भी झुकने न पायें। पीठ झुककर गोलाकर बन गई हो व

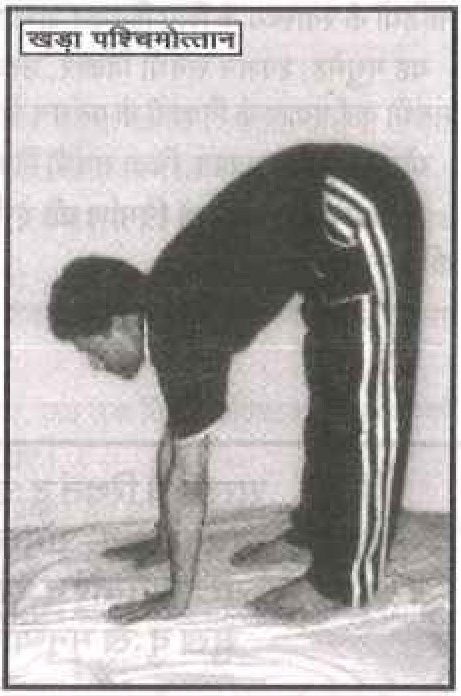

सिर दोनों हाथों के बीच आ गया हो। इसी को पादहस्तासन कहते हैं। निरन्तर के अभ्यासी लोग इसे खड़े होकर करते हैं।

दूसरा रूपक खड़ा पश्चिमोत्तान – अभ्यासी लोग इसी को खड़े होकर किये जाने वाले पश्चिमोत्तान का ही रूपक बना लेते हैं। अभ्यासियों के लिए सभी कुछ सम्भव है। इस आसन को बढ़ा लेने पर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठे पकड़े रहने पर भी सिर दोनों जानुओं का स्पर्श करता है। किन्तु पैरों के तनाव में कोई भी कमी नहीं आती। इस प्रकार

स्थिति खड़े होकर किया जाने वाला पश्चिमोत्तान की आ जाती है। इससे भी अधिक अभ्यासी अपने सिर को दोनों घुटनों के बीच में ले जाते हैं व दोनों हाथों को पैरों के बिल्कुल बराबर लाकर हथेलियाँ जमीन में जमा देते हैं।

तीसरा रूपक उष्ट्रासन खड़ा – इसी पादहस्तासन का निरन्तर अभ्यास करने वाले इसको खड़े हुए ऊँट के रूपक से भी करते हैं। दोनों पैरों को थोड़ा खोलकर रखें, दोनों हाथों को बिल्कुल सीधे पैरों में डेढ़ या बालिश्त की दूरी पर हथेलियाँ जमाकर रखें, गर्दन को थोड़ा ऊँचा कर सामने देखें। यही खड़े हुए ऊँट का रूपक है। कुछ भी हो इन सभी विधियों से किया जाने वाला यह पादहस्तासन बहुत ही गुणकारी है।

करने का समय – अपने शरीर के बलाबल को देखकर प्रथम अभ्यास आधे मिनट से ही अभ्यास करें व शनैः शनैः आधा–आधा मिनट व अभ्यास बढ़ने पर प्रतिदिन एक–एक मिनट भी बढ़ाया जा सकता है। साधारण रूपक से जहाँ आसनों की क्लासें लगती हैं, वहाँ यह आसन शिक्षक के बताये कायदे से एक मिनट या आधा मिनट ही अभ्यसनीय है। अन्य स्थिति में इसी का विशेष अभ्यास बढ़ता जा रहा हो तो अपने शरीर के बलाबल को देखकर प्रत्येक रूपक से दो या तीन मिनट करने पर यह अपना परिणाम दिखलायेगा।

लाभ– यह आसन बहुत ही लाभप्रद है। इसके करने से पैरों के पीछे के नाड़ी समूह में तनाव पड़ता है। अतः उन सभी नाड़ियों को पूरा–पूरा बल देता है। यकृत एवं प्लीहा (जिगर व तिल्ली) की बीमारियों को पूर्णतः लाभ पहुँचाता है। आँतें अपना–अपना काम ठीक–ठीक करने लगती हैं। पेट में बनने वाली वायु को रोकता है। जठराग्नि बढ़ती है। क्षुधा खूब बढ़ती है। स्थूलता दूर होकर पेट में कृशता आती है। चर्बी को रोकता है। पेट की सभी बीमारियों में परम हितप्रद है।

❑❑❑

योग का मार्ग

श्री शिवानन्द

योग–साधना के मार्ग का तात्पर्य केवल यौगिक आसनों से नहीं है क्योंकि ये तो केवल मात्र शरीर को सम्पुष्ट रख सकते हैं, यद्यपि यह भी आवश्यक ही है। योग का अर्थ है मन को हमारे विचारों और भावनाओं की हलचल का कारण है। जीवन के मूल स्त्रोत आत्म–तत्व (चेतन–तत्व से जोड़ना, हमारा आत्मस्थ होना, आत्मानन्द का सूक्ष्म अनुभव करना।

सूर्य की किरण के साथ जुड़ते ही मिट्टी के कण में चमक आ जाती है और सम्बन्ध हटते ही वह फिर निर्जीव कण ही रह जाता है। प्रभु के साथ जुड़कर जीव को जीवन, चमक और आनन्द प्राप्त हो जाते हैं। दिन–रात समस्त सृष्टि में स्थिरता पूर्वक ब्रह्म तत्व की अनुभूति करते रहना मानो ब्रह्मानन्द है। लोक व्यवहार करते हुए भी मनुष्य की व्यष्टिगत चेतना में डूबते रहना और अपने मन तथा इन्द्रियों में भी विराट चेतना विश्व चेतना का दर्शन करना मानो जीवन की श्रेष्ठ अवस्था है। यही शास्त्रोक्ति नित्य समाधि विधि है।

❑❑❑

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

श्री सुरेन्द्र बहादुर सिंह

बहूनि मे व्यतीतानि,
जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि,
न त्वं वेत्थ परंतप।।

–गीता 4/5

' हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, परन्तु उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूँ। ' भगवान श्री कृष्ण के इन वचनों के द्वारा पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है। सभी भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ (चार्वाक को छोड़कर) यह स्वीकार करती हैं कि पुनर्जन्म का चक्र आदि काल से मनुष्य कृत कर्म के आधार पर संचालित होता है। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उस कर्म का फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। यदि कर्म शुक्ल (शुभ) हैं, तो सुख की प्राप्ति होगी और यदि कर्म कृष्ण (अशुभ) हैं, दुःख की प्राप्ति होगी। जब एक मनुष्य जन्म में किये गये सारे कर्मों का फल वर्तमान जीवन में प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता तो उसे अन्य मनुष्य योनि या मनुष्येतर योनि में प्राप्त करने के लिए जन्म लेना पड़ता है। जब तक कर्मों का क्षय नहीं होता, तब तक जन्म–मरण का चक्र चलता रहता है। यही है पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

आधुनिक काल में पुनर्जन्म का सिद्धान्त एशिया महाद्वीप के बहुत बड़े भाग में एक सामान्य मान्यता के रूप में स्वीकृत है। प्राचीन काल में यह सिद्धान्त सारे संसार में व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता था, किन्तु सन् 543 ई. कुस्तुन्तुनियाँ के ईसाई धर्म–सम्मेलन ने इसे अस्वीकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी देशों में अमान्य हो गया था, परन्तु यह सिद्धान्त इतना युक्ति संगत है कि आधुनिक काल में पश्चिम के लोगों ने पुनः इसे स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त द्वारा अनेक जटिल दार्शनिक प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है तथा जीव विज्ञान के अनेक अव्याख्यात तथ्यों की भी व्याख्या हो जाती है। यही कारण है कि आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को व्यापक मान्यता मिल रही है। प्राचीन काल में यूनानी विचारों में जोरोस्ट्रियन धर्म–शास्त्रों में, पारसी धर्म के उपदेशों में

तथा ईसाई धर्म के प्राचीन पादरियों तथा जस्टिन मार्टर, सेण्टक्लीमेण्ट आदि के उपदेशों में तथा सूफी संतों एवं कवियों की रचनाओं में इस सिद्धान्त के प्रति विश्वास के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, परन्तु इसका लिखित प्रमाण सर्व प्रथम वेदों में मिलता है। वैदिक काल के लोगों का यह विश्वास था कि दाह–संस्कार के साथ मनुष्य की दृष्टि सूर्य में, श्वांस वायु में, वाणी अग्नि में तथा उसके विभिन्न अवयव प्रकृति के विभिन्न अवयवों में विलीन हो जाते हैं। आत्मा अपने शुभ एवं अशुभ कर्मो का फल दूसरे लोकों में जाकर प्राप्त करता है। वेदों में कुछ स्थलों पर आत्मा के वृक्षादि शरीरों में भी प्रवेश करने की चर्चा है।

किन्तु वेदों की अपेक्षा उपनिषदों ने पुनर्जन्म का अधिक विशद एवं स्पष्ट विवेचन किया है। प्राचीनतम उपनिषदों में छांदोग्य में पितृयान और देवयान इन दो मार्गो का वर्णन आया है, जिनसे होकर मनुष्य की आत्मा मृत्यु के उपरांत गमन करती है। पितृयान मार्ग से गमन करने वाली आत्माओं का इस संसार में पुनरावर्तन (पुनर्जन्म) होता है, किन्तु देवयान मार्ग से जाने वाली आत्माओं का पुनरावर्तन नहीं होता। पितृयान को दक्षिणायन और देवयान को उत्तरायण नाम से भी अभिहित किया गया है। जो मनुष्य अपने जीवन में शुभ कर्म करते हैं, परोपकार एवं दानादि कर्म करते हैं, वे पितृयान के अधिकारी होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय 5, खण्ड 10 में कहा गया है –

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ति दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति

धूमाद्रा त्रिंरात्रेरपरपक्षमपरपद्यान्षड् दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभि प्राप्नुवन्ति ।।3

अर्थात् जो गृहस्थ लोग ग्राम में इष्ट, पूर्त और दत्त ऐसी उपासना करते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को तथा कृष्ण पक्ष से जिन छः महीनों में सूर्य दक्षिण मार्ग से जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते। आगे चलकर कहा गया है कि ये लोग दक्षिणायन महीनों से पितृ–लोक को, पितृ–लोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। वहाँ पर वे पशु, स्त्री एवं सेवक आदि के समान देवताओं के उपकरणमात्र होते हैं, जब तक इन आत्माओं के पुण्य कर्म समाप्त नहीं होते, तब तक ये चन्द्रलोक में आनन्द लेती रहती हैं, किन्तु पुण्य के समाप्त होने पर आकाश, वायु, धूम, धुन्ध, मेघ, वर्षा, वनस्पति एवं बीज से होती हुई भोजन के माध्यम से ये पुरुष में प्रवेश पाकर माँ के गर्भ में प्रवेश करती हैं और पुनः जन्म लेती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मायें परलोक में कर्मो का भोग भी भोगती हैं तथा पुनर्जन्म भी लेती हैं। ठीक इसी प्रकार का वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद् (जो अति प्राचीन उपनिषद् है) में भी आता है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास के अभाव का एकमात्र कारण है पुनर्जन्म की विस्मृति। परन्तु विस्मृति किसी सत्य को असिद्ध करने का आधार भला कैसे हो सकती है ? हमारा अस्तित्व क्या हमारी स्मृति पर निर्भर है ? हमें इसी वर्तमान जीवन के अनेक क्षण, अनेक

अवसर, अनेक स्तर विस्मृत हो चुके हैं। अतः उन्हें याद न रहने के आधर पर नकारा नहीं जा सकता। हमें अपनी शैशवावस्था के दिन याद नहीं रहते। तो क्या इसीलिए हम कह सकते हैं कि हम कभी शिशु थे ही नहीं? जब हमें इसी जीवन के अनेक भाग याद नहीं हो रहे हैं तो पिछले जन्म का याद न रहना कौन सा आश्चर्य है ? यह भी एक प्रकार से ठीक ही है जो कि हम अपने पिछले जन्मों को भूले हुए हैं अन्यथा हमारा वर्तमान जीवन अनेक उलझनों और विपत्तियों से भर जाता। यद्यपि सामान्य मानव प्राणी अपने विगत जन्मों को भूला हुआ है तथापि प्राचीन काल से लेकर आज तक कुछ न कुछ ऐसे असाधारण मनुष्य भी उत्पन्न होते रहे हैं, जिन्हें अपने पिछले जन्मों की स्मृति रही है। वर्तमान काल में इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं – राजस्थान के एक विश्वविद्यालय के पैरासाईकोलॉजी विभाग के प्रो. बनर्जी ने इकट्ठे किये हैं। कोई भी मनुष्य अपने विगत जन्मों को योग–साधना द्वारा प्रत्यक्ष देख सकता है, जिसका उपाय महर्षि पतंजलि जी ने योग–सूत्र में इस प्रकार बतलाया है –

संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।

अर्थात् संस्कार के साक्षात् करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। 'समन्नफलसूत्त' ग्रंथ के अनुसार गौतम बुद्ध को अपने अतीत के समस्त जन्मों का स्मरण हो गया था।

प्रायः सभी धर्म मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्व में विश्वास रखते हैं, परन्तु मृत्यु के बाद का अस्तित्व जन्म के पूर्व के अस्तित्व को पूर्व मान्यता प्रदान करता है। जो मृत्यु के परे होगा, वह जन्म के परे भी अवश्य होगा। उसका होना भौतिक शरीर की उत्पत्ति तथा विनाश पर निर्भर नहीं करता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डेविड ह्यूम ने अपनी पुस्तक " **The Immortality of Soul** " में लिखा है कि " अतः यदि आत्मा अमर है, तो यह मानना पड़ेगा कि वह जन्म के पूर्व भी विद्यमान था ; और यदि उसका पूर्व अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता तो भावी अचिन्त्य हो जाता है। " यदि ईसाई धर्म–ग्रन्थो के अनुसार अनन्त जीवन सत्य है तो यह भी निश्चय रूप से सत्य है कि आत्मा अतीत में भी अनादि था। स्वामी विवेकानन्द ने इसी बात को लक्ष्य करके लिखा है –" **If you are going to exist in enternity hereafter it must be that you have existed through enternity in the post; it can not be otherwise.** "

यदि हम कहें कि जीवन अनन्त है, यद्यपि यह प्रारम्भयुक्त है, तो यह बात युक्तिसंगत नहीं होगी, क्योंकि जिसका प्रारम्भ काल के अन्तर्गत होता है, उसका अन्त भी अवश्य ही काल के अन्तर्गत होता है। वह काल के परे नहीं जा सकता। जो काल के परे था, वही काल के परे होगा।

आधुनिक जीव वैज्ञानिक पुनर्जन्म के सिद्धांत को नहीं मानते। वे व्यक्तियों के विकास, स्वभाव एवं व्यवहार की व्याख्या वंशानुक्रम तथा वातावरण के सिद्धांत द्वारा करते हैं, किन्तु कर्मवाद यह कहता है कि मनुष्य के पिछले जन्मों के कर्मो के संस्कारों के द्वारा उसके वर्तमान

जन्म की सारी विशेषताएें निर्धारित की जाती हैं। मनुष्य का स्वभाव उसके विशेष गुण, उसकी प्रतिभा की मात्रा इत्यादि उसके पिछले जन्मों के अभ्यास का परिणाम है, किन्तु जीव–विज्ञान कहता है कि ये सब चीजें मनुष्य के अपने माता–पिता से वंशानुक्रम के रूप में तथा वातावरण के प्रभाव से प्राप्त होती हैं। यदि जीव वैज्ञानिकों की बात को हम सत्य मान लें तो अनेक ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जिनके उत्तर इन वैज्ञानिकों के पास नहीं होते। उदाहरण के लिए, क्या कारण है कि एक ही माता–पिता से उत्पन्न बालकों के स्वभाव व प्रतिभाओं में विरोधात्मक अन्तर होता है ? दो जुड़वां बालक एक ही वातावरण में पाले जाने के उपरान्त भी गुण और स्वभाव में वैषम्य रखते हैं ? क्या कारण है कि कभी–कभी आदि शंकराचार्य, अरस्तू और विलियम हैमिल्टन जैसे अप्रतिम प्रतिभावान उत्पन्न हो जाते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर इन वैज्ञानिकों के पास है '**Chance**' या 'आकस्मिक '। परन्तु विज्ञान ही यह भी कहता है कि –

" Nothing can happen without a cause. "

" Every event has a sufficient cause for it. "

कर्म का सिद्धान्त भी कहता है कि कोई भी कार्य, कोई भी घटना, कोई भी परिवर्तन बिना पर्याप्त कारण के नहीं हो सकता है। यदि विलियम हैमिल्टन तेरह वर्ष की अवस्था में ही तेरह भाषायें धारा प्रवाह बोल लेता था तो क्या उसमें यह योग्यता उसके माता–पिता से संक्रमित हुई थी अथवा परिवेश से प्राप्त हुई थी ? यदि हाँ, तो अन्यों को क्यों नहीं प्राप्त हुई ? इन सब प्रश्नों का उत्तर पूर्व जन्म को स्वीकार करके कर्म के सिद्धांत द्वारा ही दिया जा सकता है।

वास्तव में आत्मा अमर है, अनादि है और अनन्त है। यह अनादि काल से जन्म – मृत्यु के चक्र में पड़ा है। जब तक वह इस चक्र में पड़ा है तब तक इसकी संज्ञा जीवात्मा है। मुक्ति के पश्चात् यद्यपि इसका पुनर्जन्म नहीं होता, फिर भी यह अस्तित्व में रहता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है –

न त्वेवाहं जातु नासं,
न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः,
सर्वे वयमतः परम्।।

– गीता 2/12

अर्थात् न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–
न्यन्याति संयाति नवानि देही।।

– गीता 2/22

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर अन्य नये वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को त्याग कर दूसरे नये शरीरों को ग्रहण करता है।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त का पूरक है। मनुष्य अपने कर्मो का भुगतान करने के लिए ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। कर्म का सिद्धान्त ही जीव को जन्म–मृत्यु के चक्र में बाँधता है। जब तक मनुष्य इस संसार के प्रति आसक्त बना रहता है, तब तक कर्म उसे बांधे रहते हैं, किन्तु जब वह अपने वास्तविक आत्म–स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है तो कर्म का बंधन छूट जाता है और उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया पर भी विचार करना यहाँ असंगत न होगा। इस प्रक्रिया के बारे में हम ऊपर छांदोग्योपनिषद् का उदाहरण दे चुके हैं, परन्तु वह उतना पर्याप्त व स्पष्ट नहीं है, जितना कि पुराणों में दिए गये वर्णनों से स्पष्ट होता है। कर्मपाश में बंधे हुए स्वर्ग आदि में पुण्य–कर्मो का फल भोग कर तथा नरक यातनाओं में पापों का अत्यन्त दुःखदायी फल भोगकर क्षीण हुए कर्मो के अवशेष भाग से इस लोक में आकर स्थावर, जंगम योनियों में जन्म लेते हैं।

❑❑❑

असतां दर्शनात् स्पर्शात् सञ्जल्पाच्च सहासनात्।
धर्माचाराः प्रहीयन्ते सिद्धयन्ति च न मानवाः।।

(वन. 1/29)

दुष्ट मनुष्यों के दर्शन से, स्पर्श से, उनके साथ वार्तालाप करने से तथा एक आसन पर बैठने से धार्मिक आचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य किसी कार्य में सफल नहीं हो पाते।

स्वधर्म में मरना श्रेयस्कर

जय नारायण राय

श्री कृष्ण भगवान अर्जुन को स्वधर्म के आधार पर युद्ध करने का आदेश देते हैं। अर्जुन के लिए युद्ध ही स्वभाव प्राप्त या सहज कर्म है, वही उसका स्वधर्म है। यदि कोई व्यक्ति शिक्षक है, तो उसका स्वभाव प्राप्त कर्म है अध्ययन–अध्यापन। व्यापारी का सहज कर्म है व्यापार। श्रमिक का सहज कर्म है शारीरिक श्रम। हर प्रकार का कर्म करने वाला व्यक्ति लोक संग्रह हेतु कर्म कर सकता है। अपने–अपने सहज कर्म से न डिगते हुए मनुष्य उसे लोक संग्रहार्थ कैसे बनाए, इसका उपाय नीचे श्लोक से स्पष्ट है :

मपि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निममो भूत्वा युध्यस्व विगत्ज्वरः।।

अर्थात् सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुए, चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित हो युद्ध कर।

उपरोक्त श्लोक में पाँच लक्षण बताये गये हैं, जिनसे युक्त होने पर कर्म लोक संग्रहार्थ बन जाता है।

1. सब कर्मों का सन्यास परमात्मा में करना– कर्त्ता अपने सम्पूर्ण कर्मों को परमात्मा को इस भाव से समर्पित करे कि इससे प्राप्त होने वाला फल मन ही मन प्रभु को अर्पित है।

2. चित्त को आत्मा में केन्द्रित करना– यदि साधक की आसक्ति देह में बनी रहती है तो यह आसक्ति बन्धनकारी हैं। साधक का सम्पूर्ण कर्म बिना आसक्ति प्रभु को समर्पित होना चाहिए।

3. आशा रहित– हमारा चित्त आशा के कारण मन से चिपकता है। भविष्य का अधिक विचार ईश्वर के प्रति हमारे समर्पण को शिथिल करता है। निराशा (हताशा) और आशा में अन्तर है। निराशा में देह और मन दोनों अवसन्न हो जाते हैं, दोनों की क्रियाशीलता बाधित हो जाती है, जबकि आशा में मन क्रियाशील रहता है पर देह अवसन्न रहती है। अतः निराशा और आशा का शिकार न होने से बचना है।

4. ममता रहित– यह भाव चित्त को देह से चिपकने से बचायेगा। सारे ममत्व की जड़ है देह। इसलिए श्री कृष्ण भगवान ममतारहित होने का उपदेश देते हैं।

5. सन्ताप रहित– 'क्षोभ' और 'आवेश', ज्वर के दो लक्षण हैं और दोनों ही साधक के कर्म को निस्तेज बना देते हैं। दोनों ही बुद्धि की चंचलता सूचित करते हैं। ज्वर की ऐसी स्थिति में बुद्धि उचित अनुचित का विचार नहीं कर पाती। यदि साधक आवेश और क्षोभ से रहित हो, भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़ वर्तमान के कर्म में भगवत्समर्पित भाव से अपने चित्त को निविष्ट करे, तो वह साधक देह और मन की आसक्ति से ऊपर उठ आत्मतत्व में लीन होगा और तब साधक सही अर्थों में अपने सम्पूर्ण कर्मों को फल सहित सन्यास परमात्मा में करने में समर्थ होगा।

श्री कृष्ण भगवान ने गीता के तीसरे अध्याय के श्लोक 31 से 34 में उपरोक्त श्लोक के निहित अर्थ के सन्दर्भ में अर्जुन को परमात्मा में श्रद्धा और अनसूया (दोषदृष्टि न रखना) वृत्ति रखने का उपदेश देते हैं तथा यह बतलाते हैं कि जो साधक परमात्मा के कथन में दोष निकालते हैं, वे सभी ज्ञानों में भ्रान्त है, अविवेकी है और फलस्वरूप वे विनाश को प्राप्त होते हैं। अर्जुन श्री कृष्ण भगवान को एक परम आत्मीय और अत्यन्त स्नेही सखा के रूप में मानता है किंतु अर्जुन के भीतर एक ऐसी वृत्ति काम कर रही है, जो श्री कृष्ण भवगान के वचनों के प्रति पूरी तरह से आस्था नहीं जमने देती। अर्जुन के मनोवृत्ति को अन्तर्या श्री कृष्ण भगवान भांप कर कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष भी अपने निज स्वभाव के अनुरूप चेष्टा करता है। कोई अपने को बलपूर्वक किसी काम के करने से रोकना चाहे तो नहीं कर पाता, क्योंकि स्वभाव आड़े आता है। श्री कृष्ण भगवान ने निग्रह की प्रयोजनीयता बतायी। जो साधक दृढ़प्रतिज्ञ है और स्वभाव के बली होने पर भी उस पर हावी होने का संकल्प करते हैं, उनके लिए संकल्प फलप्रसू होता है बशर्ते राग और द्वेष पर विजय पा ले।

□□□

इस संसार से असंख्य गड्ढे और खाइयाँ हैं। उनमें गिरने से बचने के लिए हमें चाहिए कि भगवान को सदा साथ रखें, तभी हमारी रक्षा हो सकती है।

■ ■ ■

भगवान दूर हो तो अखण्ड प्रार्थना अशक्य हो जाती है। ध्यान– मार्ग से भगवान को अपने पास रखो। ध्यान के लिए भी अभ्यास की नितान्त आवश्यकता होती है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था....

- हमें जो कुछ चाहिए वह श्रद्धा ही है। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्रायः लोप हो गया है और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को दुर्बल और छोटा बना देती है।

- अपने जीवन में मैंने जो एक श्रेष्ठतम पाठ पढ़ा, वह यह कि किसी भी कार्य के साधनों के विषय में उतना ही सावधान रहना चाहिए, जितना कि उसके लक्ष्य के विषय में। ......इस तक तत्व से सर्वदा बड़े–बड़े पाठ सीखता आया हूँ और मेरा यह मत है कि सब प्रकार की सफलताओं की कुंजी इसी तत्व में है – साधनों की ओर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है, जितना कि साध्य की ओर।

- अरे, मृत्यु अब अवश्यम्भावी है, तो कीट–पतंगों की तरह मरने के बजाय वीर की तरह मरना अच्छा है। इस अनित्य संसार में दो दिन अधिक जीवित रहकर भी क्या लाभ ? जराजीर्ण होकर थोड़ा–थोड़ा करके क्षीण होते हुए मरने के बजाय वीर की तरह दूसरों के अल्प कल्याण के लिए भी लड़कर उसी समय मर जाना क्या अच्छा नहीं है ?

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सँवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ______

______

______

☐☐☐☐☐☐

वसृष्टि रचना का क्रम

जिस प्रकार मकड़ी जाला बाहर निकालती है और फिर उसे अपने अन्दर समेट लेती है, जैसे पृथ्वी से वनस्पति उगती है, जैसे सजीव शरीरों पर बाल उगते हैं, वैसे ही यह सकल ब्रह्माण्ड उस अविनाशी से निकलता है।

जब वह परमात्मा सृष्टि का चिन्तन करता है, तो यह जगत भौतिक आकार में प्रकट हो जाता है, और वहाँ से अन्न, प्राण, मन, सत्य, उत्पत्ति, पुण्य, कर्म और अमरत्व विकसित होते हैं।

– मुण्डकोपनिषद्

संस्थापक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. दासलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा–3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाँई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) दासलाल शर्मा